पुस्तक के विषय में

प्रायः दस वर्ष हुए, जब कि मैं छतरपुर राज्य में धनञ्जय के दशरूपक के अध्ययन करने का अवसर [illegible] स्थानीय पंडितों की सहायता से उसके कुछ अंशों का अनुवाद भी किया था किन्तु उन दिनों राजकीय कार्यों के कारण यह कार्य पूरा न हो सका। तभी से मेरे मन [illegible] कला के सम्बन्ध में एक आलोचनात्मक पुस्तक लिखने [illegible] जागरित हो उठी थी। इसके लिए यथासम्भव कुछ श्र[illegible] कर लेता था किन्तु विशेष प्रेरणा के अभाव में ग्रन्थ [illegible] इच्छा को पूरा न कर सका। यह प्रेरणा मुझको श्री लक्ष्मणदासजी के पत्र से मिली। उन्हीं के प्रोत्साहन से [illegible] पुस्तक को पूरा कर सका हूँ। इसके लिए मैं उनका अनुगृ[illegible]

यह पुस्तक आधुनिक विद्यार्थियों के दृष्टिकोण [illegible] गई है। इसमें मुख्यतया भारतीय ग्रन्थों का आधार [illegible] है। किन्तु हिन्दी-नाटकों के विकास में जो यूरोपि[illegible] कर रहे हैं, उनकी भी अपेक्षा नहीं [illegible] शास्त्रसम्बन्धी ग्रन्थों का आधार ले[illegible] विभागों और अन्तर्विभागों की भ[illegible] [illegible]स विद्यार्थि[illegible] मस्तिष्क को भाराक्रान्त करने से बच[illegible] [illegible]या है।

यद्यपि इस पुस्तक में हिन्दी नाटकों का कोई [illegible] लिखने का उद्योग नहीं किया गया है तथापि जहाँ तक [illegible] है भिन्न-भिन्न कालों की मूल प्रवृत्तियों का उद्घाटन कर [illegible] है, जिससे कि उनके विकास का क्रम विद्यार्थियों की सम[illegible] जाय। कुछ प्रमुख नाटकों के रसास्वादन कराने का भ[illegible] किया है, जिससे कि विद्यार्थिगण अन्यान्य नाटकों का [illegible] उसी तरह कर या उससे भी सुधरी हुई रुचि और श्र[illegible] बुद्धि से कर सकें। पुस्तक के अन्त में नाटकों की शैलियों [illegible] हरणस्वरूप कुछ नाटकों में [illegible] उद्धरण भी दे दिये ग[illegible] उद्धरण भी नाटकों के विकास [illegible] समझने में सहायक [illegible]

मैं उन प्रकाशकों और विद्वानों के प्रति, जिनकी पुस्तक से स्तक के निर्माण में सहायता मिली है, आभार-प्रकाशन अपना मधुर एवं पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ। इस पुस्तक देखने में जो मदद मुझे प्रेस के व्यवस्थापक श्री पंडित नन्द खंड्गी शास्त्री से मिली है, उसके लिए मैं उनका ीत हूँ।

मैं आशा करता हूँ कि विद्यार्थिगण, जिनके लिए यह लिखी गई है, इससे समुचित लाभ उठाकर मेरे परिश्रम ाक करेंगे।

वास, आगरा
क्र १०, १६६२ — गुलाबराय

विषय सूची

पहला अध्याय

नाटक का स्थान

पृष्ठ	१–१
अनुकूल काव्य के भेद	२–३
उपन्यास, नाटक	३–४
दृश्य काव्य	४–५
महत्त्व	५–६

दूसरा अध्याय

ा उदय

मूलभूत मानसिक	६–७
नाटकों का उदय	७–६
के नाच की कल्पना	६–१२
भारतीय नाट्यकला की प्राचीनता	१२–१५
भारतीय नाट्यकला पर यूनानी प्रभाव	१५–१८

तीसरा अध्याय

नाटक के तत्त्व

(सामान्य विचार)	१८–१६
वस्तु	१६–२०
अवस्थाएँ	२०–२२
अर्थप्रकृतियाँ	२२–२३
संधियाँ	२३–२३
अर्थोपेक्षक	२३–२५
श्राव्य अश्राव्य और नियत श्राव्य	२ –२५

पात्र २५-२६
नाटकों के प्रकार २६-२९
रस २९-३२
दुःख से सुख क्यों? ३२-३५
भारत में दुःखान्त नाटकों का अभाव ३५-३७
अभिनय ३७-३९
वृत्तियाँ ३९-४०
रूपकों के भेद ४०-४२
रंगमंच ४२-४४
हिन्दी रंगमंच ४४-४९
सिनेमा और रंगमंच ४९-५०

चौथा अध्याय

नाट्य साहित्य
संस्कृत के नाटक ५०-५२
पश्चिमी देशों के नाटक (सामान्य बातें) ५२-५४
संकलनत्रय ५४-५७
इब्सन का प्रभाव ५७-५८
अन्य प्रवृत्तियाँ ५८-५८
एकांकी नाटक ५८-५९
हिंदी के नाटक
उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व हिन्दी में नाटकों का अभाव ५९-६१
हरिश्चन्द्र से पूर्व के हिन्दी नाटक ६१-६२
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ६२-६४
युद्ध
भारते
नवीन
नवीन
प्रसाद
नवीन
हिन्दी के एकांकी नाटक
प्रमुख नाटककार
उपसंहार
अन्य प्रान्तीय नाटक और रंगमंच

पाँचवाँ अध्याय

कुछ नाटकों का आलोचनात्मक परिचय

शकुन्तला ८
उत्तर रामचरित १०
चित्राङ्गदा ११
चन्द्रगुप्त का तुलनात्मक अध्ययन ११

परिशिष्ट

प्रबोध चन्द्रोदय १२
भारतदुर्दशा १२
शाहजहाँ १३
ध्रुवस्वामिनी १३
बुद्धदेव १४
ज्योत्स्ना १५
[illegible] १५

हिन्दी नाट्य-विमर्श

पहला अध्याय

काव्य में नाटक का स्थान

'काव्येषु नाटकं रम्यम् ।'

काव्य

परमात्मा को सच्चिदानन्दस्वरूप कहा है। मनुष्य में भी परमात्मा के गुण न्यूनाधिक रूप में वर्तमान रहते हैं। वह सत् है, मननशील होने के कारण वह चित् है और उसमे कभी-कभी आनन्द की भी लहर उठा करती है। मनुष्य के हृदय का आनन्द जब व्यक्ति की संकुचित सीमाओं मे न बँधकर उद्वेलित होने लगता है और प्रकाश में आने के लिए उत्सुक हो उठता है, तभी काव्य और कला की सृष्टि होती है।

मनुष्य का हृदय यद्यपि आनन्द का स्रोत है तथापि उस आनन्द को उद्वेलित करने के लिए उसे इस गुणदोषमय जड़चेतनात्मक संसार के सम्पर्क मे आना पडता है। जब मनुष्य की सहृदयता बढ़ जाती है, तब उसको इस संसार के दृश्य प्रभावित कर उसे तल्लीन कर लेते हैं। तल्लीनता के कारण उसके सभी अनुभव आनन्दमय हो जाते हैं। वह आनन्द बाहर आने के लिए कुछ व्यक्त रूप धारण करना चाहता है। इसी को अभिव्यक्ति कहते हैं। जब यह आनन्द की अभिव्यक्ति अपने अनुरूप सुरम्य शब्दावली के प्रवाह मे होती है, तब उसको हम काव्य कहते हैं। यह शब्दमय प्रवाह हृदय के उत्स से निकल पाठकों और श्रोताओं के हृदय में समान आनन्द का सञ्चार करने लगता है। इसी बात को साहित्य-दर्पण-कार ने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' कहकर अभिव्यक्त किया है। काव्य का मूल आनन्द में है, उसका प्रभाव भी आनन्दमय है। काव्य रसमय होने के कारण हमको ईश्वरीय आनन्दानुभूति के निकट ले जाता है क्योंकि रस को परमात्मा कहा है—'रसो वै सः।' काव्य की रसानुभूति में हृदय व्यक्ति की संकुचित सीमाओं को पार कर सत्त्वगुणप्रधान आनन्दसागर की लहरों से प्लावित होने लगता है।

विषय के अनुकूल काव्य के भेद

विषय के विचार से काव्य के दो भेद किये जाते हैं। एक वह जिस में कवि आपबीती बात कहता है और दूसरा वह जिसमें जगबीती बात का वर्णन होता है। आपबीती में निजीपन के कारण भावात्मकता की मात्रा कुछ अधिक रहती है। अपनी चीज़ में रागात्मकता का आधिक्य स्वाभाविक ही है। ऐसे काव्य में कवि टट्टी की ओट शिकार नहीं खेलता। वह अपने अस्त्र-शस्त्र लेकर सामने आ जाता है। रूपक को बदलकर हम यह कह सकते हैं कि कवि जो मानव-जाति का वकील होता है, वकालत की गाउन उतारकर अपना ही मामला पेश करने लगता है। यह बात दूसरी है कि उसके रोने या गाने में दूसरे भी शामिल हो जायँ किन्तु वह रोता या गाता अपनी निजी प्रेरणा से है। कवि के हृदयगत भाव एक विशेष अपनापन लेकर एक नई झंकार के साथ बाहर आते हैं। इस भावात्मकता के प्राधान्य के कारण उसकी रचना मे एक विशेष प्रवाह आ जाता है और वह प्रायः संगीतात्मक हो जाती है। इसी को प्रगीत या लिरीकेल (Lyrical) काव्य कहते हैं। लिरिक शब्द लाइर से बना है, जो सितार की तरह का तार का बाजा होता था। ऐसा काव्य यद्यपि गद्य में भी हो सकता है तथापि उसमे संगीत की मुख्यता होने के कारण उसे प्रगीत ही कहते हैं।

वह काव्य, जिसमें जगबीती का वर्णन हो, अनुकृत (Imitative) कहाता है। प्रगीत-काव्य अन्तर्मुखी अधिक होता है। अनुकृत-काव्य बहिर्मुखी होता है। एक में भाव की प्रधानता होती है तो दूसरे में वर्णन की। वास्तव मे दोनों प्रकार के काव्यों में विशेष अन्तर नहीं है। जो आपबीती है, वह प्रायः जगबीती भी होती है। कवि अपनी समकालीन जनता का प्रतिनिधि होता है। उसकी व्यापक सहृदयता के कारण विश्व की वीणा उसके हृदय द्वारा मुखरित हो उठती है। वह विराट मानव का मुख बनकर गाने लगता है। उसकी निजी पुकार में जनता की पुकार छिपी रहती है। जब वह जगबीती कहता है, तब भी वह निरपेक्ष द्रष्टा की भाँति नहीं रहता है। वह अपने भावों के चश्मे से ही देखता है। दृश्य संसार उसके भावों की भावना में परिपक्व होकर मानव-मस्तिष्क मे पचने योग्य बनता है।

इस अपार सत्ता-सागर से कवि वही दृश्य चुनता है, जो उसकी ...ों के अनुकूल होते हैं। उसी का वह वर्णन करता है। तुलसी

और सूर एक ही समय मे हुए किन्तु भावना के भेद से तुलसी ने राम के मर्यादा-परायण आख्यान को चुना और सूर ने कृष्ण की रसपूर्ण लीलाओं के पद गाये। राम और कृष्ण के आख्यान बाह्य जगत से सम्बन्ध रखते हैं किन्तु उनमें हम कवि-हृदय के आनन्द और उत्साह की छाप देखते हैं। कवि की भक्ति-भावना इष्टदेव के पावन चरित्र के वर्णन मे प्रस्फुटित हो उठती है। दोनों मे अन्तर केवल इस बात का है कि प्रगीत काव्य मे कवि का निजी रूप आगे रहता है और अनुकृत काव्य में कवि अपने व्यक्तित्व को पृष्ठ-भूमि में रखकर नायक के रूप को सामने लाता है।

महाकाव्य, उपन्यास और नाटक

जगबीती का वर्णन गद्य और पद्य दोनों में हो सकता है। पद्य में जो वर्णन होता है, वह प्रायः महाकाव्य (Epic) के रूप में होता है। रामायण हमारे यहाँ का आदि महाकाव्य है। महाकाव्य मे पद्य के आकार के अतिरिक्त जातीय अथवा युग की भावना का प्राधान्य रहता है। उसका नायक जाति का नायक और प्रतिनिधि होता है। महाकाव्य एक प्रकार से संस्कृतिप्रधान होता है।

गद्य के अनुकरणात्मक रूपों में उपन्यास की मुख्यता है। नाटक गद्य और पद्य के बीच की चीज़ है और अब उनमे गद्य की प्रधानता होती जाती है। नाटक शुद्ध गद्य तो नहीं होता तो भी उसकी गणना प्रायः गद्य में ही की जाती है (गीत-नाट्यों की दूसरी बात है)। उसमे कथोपकथन की प्रधानता रहने के कारण वह गद्य के ('गद्' धातु बोलने के अर्थ मे आता है) शब्दार्थ का अधिक अनुकरण करता है। महाकाव्य की अपेक्षा इन दोनों में व्यक्ति अर्थात् चरित्र-चित्रण की प्रधानता रहती है। रामायण और उत्तररामचरित्र के राम मे थोड़ा अन्तर रहता है। रामायण के राम जातीय नेता, उद्धारक, जाति-रक्षक और आदर्श पुरुष हैं। उनमे आर्य सभ्यता मूर्तिमान् होकर आती है। उत्तररामचरित्र के राम व्यक्ति के रूप में आते हैं। वे राजा हैं किन्तु राजा के साथ वे अपना निजी सुख-दुःख रखते हैं। सब चीज़ों से उनका निजी सम्बन्ध दिखाई पडता है। उत्तररामचरित्र मे हमको उनके हृदय का अधिक परिचय मिलता है। जब वे कहते हैं कि दुःख के लिए ही राम का जीवन है, तब उनका व्यक्तित्व निखर आता है।

उपन्यास और नाटक में व्यक्ति का प्राधान्य रहता है किन्तु इनके दृष्टिकोण में अन्तर है। उपन्यास चाहे जिस रूप में हो, भूत से ही सम्बन्ध

 रखता है। वह आख्यान का ही रूप है। आजकल अंग्रेज़ी में भविष्य से सम्बन्ध रखने वाले भी उपन्यास लिखे गये हैं किन्तु उनमें भी लेखक भविष्य को देखकर यानी उसे भूत बनाकर उसका पीछे से वर्णन करता है। नाटक का भी विषय भूत का ही होता है किन्तु नाटककार उसे प्रत्यक्ष घटना के रूप में दिखाना चाहता है। वह भूत को आँखों के सामने घटाने का प्रयत्न करता है। उपन्यास घटी हुई घटना को कहता है। नाटककार कहता नहीं है वरन् वह घटना की प्रत्यक्ष में आवृत्ति कर द्रष्टाओं को उन की ही आँख से दिखाना चाहता है। वह सिनेमा के ऑपरेटर (Operator) की भाँति अपना व्यक्तित्व छिपाये रखता है। यदि उसका व्यक्तित्व कहीं दिखाई पडता है तो वह किसी पात्र के रूप में पाठकों के सामने आता है। उसको अगर पाठक लोग आवरण के भीतर से पहचान ले तो दूसरी बात है लेकिन वह स्वयं आवरण उतारता नहीं है। इसी आधार पर काव्य के दृश्य और श्रव्य ये दो भेद किये गये।

श्रव्य और दृश्य काव्य

श्रव्य काव्य में शब्दों द्वारा, चाहे वे स्वयं पढे जायँ और चाहे वे दूसरों के मुख से सुने जायँ, पाठकों और श्रोताओं के हृदय में रससञ्चार किया जाता है। दृश्य काव्य में शब्दों के अतिरिक्त पात्रों की वेश-भूषा, उनकी आकृति और भाव-भङ्गी तथा क्रियाओं के अनुकरण और भावों के अभिनय द्वारा दर्शकों को भावमग्न किया जाता है। इसी को रूपक* या नाटक कहते हैं। नाटक में जीवन की अनुकृति को शब्दगत संकेतों मे संकुचित न करके उसको सजीव पात्रों द्वारा एक चलते-फिरते सप्राण रूप में अंकित किया जाता है। नाटक सिनेमा की अपेक्षा वास्तविकता के अधिक निकट होता है। उसके पात्र छाया-चित्र नहीं होते हैं वरन् अनु-कार्य (जिनका अनुकरण किया जाय) पात्रों की भाँति के ही चलते-फिरते और सजीव होते हैं। नाटक जीवन की सांकेतिक अनुकृति नहीं है वरन् सजीव प्रतिलिपि है। वास्तविक संसार और नाटक में भेद केवल

* 'रूपारोपात्तु रूपकम्' (साहित्यदर्पण)। एक व्यक्ति का दूसरे में आरोप करने को रूपक कहते हैं। जब नट के ऊपर दुष्यन्त का आरोप किया जाता है, अर्थात् जब वह नट न रहकर दुष्यन्त का रूप धारण करके मंच पर आता है, तभी नाटक या अभिनय होने लगता है। नट से सम्बन्ध रखने के कारण नाटक नाटक कहलाता है।

इतना ही है कि नाटक के अभिनेता स्वयं अपना व्यक्तित्व धारण न [५ कर दूसरे का व्यक्तित्व धारण करते हैं। वास्तविक संसार के पात्र अपने निजी रूप में रहते हैं। नाटक एक कला है। उसमें चुनाव और प्रभावोत्पादन का भी कार्य रहता है। जीवन मे सभी घटनाएँ प्रभावोत्पादक नहीं रहतीं। नाटक मे फैले हुए जीवन व्यापार को ऐसी व्यवस्था के साथ रखते हैं कि अधिक से अधिक प्रभाव उत्पन्न हो सके। इसी लिए जीवन की एक संक्षिप्त पुनरावृत्ति सी करनी पडती है। यह नटों द्वारा होती है। नटों पर अनुकार्य पात्रों (राम, सीता, दुष्यन्त, शकुन्तला) के व्यक्तित्व का आरोप कर दिया जाता है। जिस प्रकार रूपक अलङ्कार में मुख पर चन्द्रमा का आरोप किया जाता है उसी प्रकार नटों या अभिनेताओं पर राम, सीता, दुष्यन्त और शकुन्तला का आरोप किया जाता है। जब मंच पर नट आता है, तब हम यह नहीं कहते हैं कि नट आया वरन् यह कहते हैं कि दुष्यन्त आया। नाटक का सम्बन्ध नट से है। अवस्थाओं की अनुकृति को नाट्य* कहते हैं। इसी से नाटक शब्द की सार्थकता है। पारिभाषिक दृष्टि से रूपक शब्द अधिक व्यापक है। नाटक दश रूपकों में से एक है किन्तु उनमें नाटक की मुख्यता होने के कारण नाटक और रूपक पर्यायवाची शब्द से बन गये हैं।

नाटक का महत्त्व

दृश्य काव्य की विशेषता के सम्बन्ध में हम ऊपर थोड़ा कह चुके हैं। यहाँ पर उसका स्पष्टीकरण कर देना अनुपयुक्त न होगा। श्रव्य काव्य में शब्दों द्वारा कल्पना की सहायता से मानसिक चित्र उपस्थित होते हैं। दृश्य काव्य मे कल्पना पर इतना बल नहीं देना पड़ता, उसमें हमको यही प्रतीत होता है कि हम वास्तविकता को देख रहे हैं। अमूर्त से मूर्त का प्रभाव अधिक होता है। नाटककार की भाषा मे जो कमी रह जाती है, वह नटों या अभिनेताओं की भाव भङ्गी से पूरी हो जाती है। इसलिए नाटक की प्रभावोत्पादन शक्ति बढ़ी-चढ़ी रहती है। यदि हम अखबार मे पढ़ते हैं कि कहीं पर रेलगाड़ी लड़ गई अथवा नगर में किसी नेता का जलूस निकला तो उससे हमारे भावों की इतनी जागृति नहीं होती, जितनी कि प्रत्यक्ष देखने से होती है। थोड़े पढ़े अथवा कम समझ वाले लोगों के लिए मूर्त और प्रत्यक्ष जितना बुद्धिगम्य होता है, उतना अमूर्त नहीं। इसलिए नाटक जनता की चीज़ है। इसको पंचम वेद भी कहा है क्योंकि इसमें

---

* अवस्थानुकृतिर्नाट्यं रूप दृश्यतयोच्यते (दशरूपक)।

६] शूद्रों तक को भी अधिकार है। इसका यह अर्थ नहीं कि यह निम्न कोटि के लोगों की चीज़ है। इससे केवल यह मतलब है कि इसमें लोक-हित और लोकरञ्जन की क्षमता अधिक है।

शास्त्रों और कलाओं की दृष्टि से भी नाटक का महत्त्व अधिक है। इसमें सभी कलाओं का समावेश हो जाता है। स्थापत्य (इमारत बनाने की कला), चित्रकला, संगीत, नृत्य, काव्य, इतिहास, समाज-शास्त्र, वेष-भूषा की सजावट, कपड़ों का रँगना आदि सभी शास्त्रों और कलाओं का आश्रय लिया जाता है। दर्शकों के सामूहिक सहयोग के कारण उसमें जातीय जीवन की एक छटा दिखाई देने लगती है। इसके सम्बन्ध में नाट्य-कला के आदि आचार्य भरतमुनि ने ठीक ही कहा है—योग, कर्म, सारे शास्त्र, सारे शिल्प और विविध कार्यों मे कोई ऐसा नहीं है, जो नाटक में न पाया जाय*।

दूसरा अध्याय

नाटकों का उदय

नाटक की मूलभूत मानसिक प्रवृत्तियाँ

विकासवाद का एक सिद्धान्त है कि जाति के इतिहास की व्यक्ति के जीवन में पुनरावृत्ति होती है। यदि हम यह जानना चाहें कि किसी संस्था का प्रारम्भ कैसे हुआ तो हमको बच्चों के जीवन में उसके बीज और अंकुरों को देखना चाहिए। बच्चों के जीवन मे मानव सभ्यता का इतिहास सजीव अक्षरों में अंकित रहता है। मनुष्य की स्वाभाविक अनुकरण-शीलता का पता हमको बालकों के खेल में मिलता है।

बच्चा अपनी कल्पना के बल लकड़ी के डंडे को घोड़े का आकार देकर उसको सरपट चाल चलाता है। कहीं वह स्वयं ही अंजन बनकर भक्-भक् करता हुआ अपने पीछे समवयस्क बच्चों की रेल को भगाता फिरता है। मूँछों के रेखामात्र चिह्न न होते हुए भी बालक अपने बड़ों के अनुकरण में स्याही की मूँछ बना लेता है। बालिकाएँ घरुआ-पतुआ बनाकर उसमें गुडियों-गुड्डों का विवाह कराकर अपने भावी गार्हस्थ्य जीवन का पेशगी आनन्द अनुभव कर लेती हैं। यही नाटक की मूल प्रवृत्ति है।

---

* न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते।
सर्वशास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च॥

अब यह प्रश्न हो सकता है कि यह अनुकरण की प्रवृत्ति किसलिए ? इसका आधार क्या है ? मनुष्य में अनुकरण की प्रवृत्ति इसलिए मालूम पडती है कि वह अपनी आत्मा का विस्तार देखना चाहता है। आत्मा सदा विस्तारोन्मुखी रहती है। आत्मा के विस्तार से मनुष्य को सुख और संकोच से दुख होता है। बालक बडों का अनुकरण इसी लिए करता है कि उसको अपनी अवस्था की संकुचित सीमाएँ अखरती हैं। वह बड़ों के साथ तादात्म्य प्राप्त करना चाहता है। वह मूँछें लगाकर पिता जी होने का गौरव प्राप्त करना चाहता है। किसी मनुष्य का जीवन पूर्ण नहीं है, वह दूसरे के जीवन से पूर्णता प्राप्त करना चाहता है। नाटक में इस प्रकार की पूर्णता अभिनेता और दर्शक दोनों को ही मिलती है। मजदूर राजाओं के जीवन से परिचित हो जाता है और राजा मजदूरों के जीवन से जानकारी प्राप्त कर लेता है। साधारण से साधारण नट मंच पर राजकीय ठाट-बाट और आदर-सत्कार का अनुभव कर सकता है। अभिनेता अपने इष्टदेव का अभिनय कर उनसे तादात्म्य प्राप्त कर लेता है। मानवता का तारतम्य पूरा हो जाता है। इसमें मानव-जाति की रक्षा का भी भाव लगा रहता है। हम नाटक में भिन्न-भिन्न श्रेणी और अवस्था के लोगों का अनुकरण कर एक प्रकार से वही आनन्द लेते हैं, जो इतिहास के अध्ययन में आता है अथवा अपनी तसवीर देखने में प्राप्त होता है।

दूसरों के अनुकरण में हमारी एक प्रकार की आत्माभिव्यक्ति भी हो जाती है। मनुष्य को सब अवस्थाएँ सभी समय प्राप्त नहीं होती हैं। पात्रों को अनुकरण में और दर्शकों को नाटक देखने में अपने भावों को प्रकाशित करने का अवसर मिल जाता है। इस प्रकार नाटक के मूल मे चार मनोवृत्तियाँ काम करती हैं—

(१) अनुकरण, (२) पारस्परिक परिचय द्वारा आत्मा का विस्तार, (३) जाति की रक्षा, (४) आत्माभिव्यक्ति।

भारतवर्ष में नाटकों का उदय

इस सम्बन्ध मे प्राचीन मत तो यह है कि महेन्द्र आदि देवताओं के प्रार्थना करने पर ब्रह्मा ने नाट्यवेद को पाँचवे वेद के रूप में बनाया। उसके लिए ऋग्वेद से पाठ लिया, सामवेद से गान लिया, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लिया* । इसके लिए शिवजी ने ताण्डव नृत्य

* जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥

 दिया और पार्वतीजी ने इसे लास्य (कोमल नृत्य) से विभूषित किया। इसके अभिनय का कार्य भरतमुनि को सौंपा गया। उन्होंने अपने सौ पुत्रों को नाटक के भिन्न-भिन्न अङ्गों में शिक्षा देकर उनके द्वारा अभिनय कराया।

नाटक के उदय के सम्बन्ध में आधुनिक विद्वानों के दो मत हैं। एक मत तो यह है कि भारतवर्ष में नाटकों का उदय धार्मिक कृत्यों से हुआ है। दूसरा यह कि उनका उदय लौकिक और सामाजिक कृत्यों से हुआ। यूरोप वालों ने इस विवाद में अधिक दिलचस्पी ली है। प्रोफ़ेसर मैक्स-म्यूलर (Max Muller), लेवी (Levi), डाक्टर हर्टैल (Dr Hertel) आदि आचार्यों का मत है कि नाटक का उदय वैदिक ऋचाओं के गान में हुआ है। यज्ञों के अवसर पर ये ऋचाएँ गाई जाती थीं। जहाँ पर इनमें संवाद आते हैं, वहाँ पर उन संवादों को स्पष्टता देने के लिए (अर्थात् कौन किसके द्वारा कहा गया है) एक पक्ष से कही हुई ऋचाओं का एक ऋत्विक् गान करता था और दूसरी ओर से कही हुई ऋचाओं का गान दूसरा। इस सम्बन्ध मे इन्द्र और मारुतों के संवाद तथा सोम-विक्रयसम्बन्धी घटनाओं का उल्लेख किया जाता है। पीछे कृष्णपूजासम्बन्धी यात्राओं मे इसका रूप और भी स्पष्ट हो गया। वैसे भी धार्मिक अवसरों पर जागरण आदि कर गीत-नाट्य में रात को विताने का उल्लेख धार्मिक ग्रन्थों मे आता है* !

नृत्त और नृत्य में अन्तर है। नृत्त में ताल के ऊपर पदसञ्चालन होता है। उसमें समय की नाप, तोल और गति की मुख्यता रहती है। नृत्य में भावों का अभिनय भी रहता है। पुरानी चाल के नृत्यों में नाना प्रकार के भाव बतलाये जाते हैं। नृत्य के बाद नाट्य आता है। उसमें भावों के अभिनय के साथ कथोपकथन भी आ जाता है। नाट्य ही नाटक का अभिनय है। नृत्य में भाव की प्रधानता होती है, नाट्य में रस की। धार्मिक अवसरों पर नृत्य भी हुआ करता था।

डाक्टर रिजवे (Dr Ridgeway) ने नाटक का उदय मृतक वीरों की पूजा से माना है। उनका मत है कि प्रारम्भिक काल में मृत आत्माओं की प्रसन्नता के लिए गीत, नाटक आदि का आयोजन हुआ है। हिन्दुओं के धार्मिक-विधान और जनता के विचार में राम कृष्ण आदि महापुरुष वीरों की संज्ञा की अपेक्षा देवत्व की संज्ञा में बहुत काल पहले से ही चले आते थे। रिजवे साहब का मत समीचीन नहीं समझा जाता !

* रात्रौ नृत्यगीतादिकं चरेत्।

नाटक का उदय लौकिक कृत्यों से मानने वाले लोगों* का [९
कहना है कि समाज मे जो लोकरञ्जन के हेतु गीत, नृत्य आदि होते हैं, उन्हीं से नाटक का जन्म हुआ है। इनमें ऋतु-संबधी उत्सव भी शामिल हैं। अशिक्षित लोगों मे जो अनुकरणात्मक नृत्य होते हैं, उन्हीं को नाटक का जन्मदाता माना गया है। अशोक के समय ऐसी समाजें हुआ करती थीं, जिनमें नाच-कूद और जानवरों की लड़ाइयाँ आदि होती थीं। इनका अशोक ने निषेध किया था। वाल्मीकीय रामायण में भी नटों और नर्तकों का उल्लेख आता है। प्रोफ़ेसर हिलेब्राँ का कथन है कि नाटकों मे प्राकृत (लोकभाषा) का होना उनके लौकिक आधार का द्योतक है।

ये सब कल्पनाशील विद्वान् इस बात को भूल जाते हैं कि भारतवर्ष मे धार्मिक, सामाजिक और लौकिक कृत्यों में ऐसा भेद नहीं है, जैसा कि लोग समझते हैं। भारतवर्ष मे धर्म मानव जीवन का अंग है। इस देश का दुकानदार भी तो अपनी गोलक को महादेव बाबा की गोलक बतलाता है। यहाँ पर तो विवाह भी एक धार्मिक संस्था है। यह अवश्य माना जायेगा कि कुछ कार्यों में धार्मिकता अधिक है और कुछ मे सामाजिकता किन्तु उनका पार्थक्य करना नितान्त असम्भव है। हिन्दुओं के यहाँ जितने आनन्द के साधन हैं, उनका मूल धर्म मे है। उनकी अतिशयता चाहे उन्हें अधर्म का रूप दे दे, यह दूसरी बात है।

कठपुतलियों के नाच की कल्पना

इस सम्बन्ध मे पिशल (Pischel) के मत पर भी विचार कर लेना असंगत न होगा। वे भारतीय नाटकों का मूल लौकिक आधार मानते हुए कहते हैं कि नाटकों का उदय कठपुतलियों के नाच से हुआ। प्राचीन भारतवर्ष मे कठपुतलियों और अन्य प्रकार की पुतलियों का प्रचार अवश्य था। यह बात गुणाढ्य की बृहत्कथा तथा राजशेखर की बालरामायण से प्रमाणित होती है। बृहत्कथा में लिखा है कि मायासुर की कन्या के पास ऐसी कठपुतली थी, जो नाचती-गाती थी और हवा में भी उड सकती थी। महाभारत में लिखा है कि उत्तरा ने अर्जुन से एक पुत्तलिका लाने के लिए कहा था।

पिशल साहब की प्रधान युक्ति नाटक में सूत्रधार और स्थापकों को

---

* यूरोप में प्रोफेसर हिलेब्राँ (Hillebrandt) और प्रोफेसर कोनो (Konow) भारतीय नाटक का उदय लौकिक कृत्यों में मानते हैं।

 लाने की प्रथा पर अवलम्बित है। उनका कथन है कि कठपुतलियों के नाच में जो डोरा पकड़ता था, वही नाटक का सूत्रधार बन गया। पिशल साहब ने छाया-नाटकों का भी इस सम्बन्ध में उल्लेख किया है। छाया-नाटक एक प्रकार से आज कल के सिनेमा के पूर्वरूप थे। इन छाया-नाटकों में एक पर्दे पर अभिनय करती हुई चमड़े की पुतलियों की छाया डालकर चलते-फिरते चित्रों का सा प्रभाव उत्पन्न किया जाता था। पिशल साहब के अनुयायी लोग रूपक शब्द का सम्बन्ध भी रूप अर्थात् मूर्तियों और पुतलियों से स्थापित करते हैं।

हमारे यहाँ के कुछ विद्वानों ने इनकी कल्पना को सिद्धान्त कल्पना सी मानकर कठ-पुतलियों के नाच को भी भारतीय नाटक का आधार माना है। कीथ (Keith) महोदय ने अपने 'संस्कृत ड्रामा' नाम के ग्रन्थ में इस कल्पना का निराकरण किया है। उनका कथन है कि छाया-नाटक यदि थे तो वे बहुत पीछे की चीज़ हैं (यानी तेरहवीं शताब्दी की)। उनको भारतीय नाटकों का मूल मान लेना कहाँ तक युक्तिसगत हो सकता है ? उन्होंने माना है कि यदि कोई नाटक छाया-नाटक कहा जा सकता है तो वह सुभट का दूताङ्गद है और वह तेरहवीं सदी का है।

सूत्रधार शब्द के आधार पर जो युक्ति दी जाती है, वह भी निराधार है। सूत केवल कठपुतलियों का ही नहीं होता। मकान बनाने वाले कारीगरों के पास भी तो सूत्र रहता है, जिसका वे नित्य प्रति प्रयोग करते हैं। हिन्दी में जो 'सूत्रपात' शब्द है, उसका आधार कारीगरों के डोरे में है, क्योंकि मकान बनाने से पहले सूत्र डालकर ही सब नाप तोल की जाती है। फिर सूत्र किसी कथा के तारतम्य को भी कहते हैं। अँगरेजी में तो लम्बी कहानी को Yarn अर्थात् सूत कहते हैं। हिन्दी मे भी बात के बढ़ाने को सूत कातना कहते हैं। व्याकरण और दर्शन आदि शास्त्रों के भी सूत्र होते हैं। इस सम्बन्ध में स्वर्गीय जयशङ्करप्रसाद जी के मत को 'काव्य और कला' नाम की पुस्तक से उद्धृत कर देना अनुपयुक्त न होगा—

'कठपुतलियों से नाटक प्रारम्भ होने की कल्पना का आधार सूत्रधार शब्द है। किन्तु सूत्र के लाक्षणिक अर्थ का ही प्रयोग सूत्रधार और सूत्रात्मा जैसे शब्दों से मानना चाहिए। जिसमें अनेक वस्तु ग्रथित हों और जो सूक्ष्मता से सब मे व्याप्त हो, उसे सूत्र कहते हैं। कथावस्तु और नाटकीय प्रयोजन के सब उपादानों को जो ठीक-ठीक संचालित करता हो, ९ सूत्रधार आजकल के डायरेक्टर की ही तरह का होता था। सम्भव है

कि पटाक्षेप और जवनिका आदि के सूत्र भी उसके हाथ में रहते हों।' [११

सार रूप से हम यही कह सकते हैं कि भारतीय नाटकों का उदय वैदिक कर्मकाण्ड तथा धार्मिक अवसरों पर होने वाले अभिनयात्मक नृत्यों में हुआ। पीछे से रामायण, महाभारत, काव्य और इतिहास ग्रन्थों से उसे पर्याप्त सामग्री मिली और वह अपने पूर्ण विकसित रूप में आ गया।

प्रारम्भिक काल मे धर्म की ही प्रधानता थी। गीत, नृत्य आदि सभी धर्म के अंगों मे थे। विज्ञान (ज्योतिष, आयुर्वेद आदि) भी वेदों के अंगों में शामिल था। नाट्य-शास्त्र को पाँचवाँ वेद कहा गया है। जब प्राचीन समय मे धर्म से बाहर कोई चीज़ ही नहीं थी तो नाटको के मूल की खोज धर्म से बाहर करना निरर्थक है। प्राचीन भारत मे जो कुछ लौकिक था, वह भी धार्मिक था। दूसरी बात यह है कि गीत, नाट्य आदि कलाओं और धार्मिक कृत्यों की मूल प्रवृत्ति एक ही आनन्द की चाह में पाई जाती है। धर्म का आनन्द आध्यात्मिक हो जाता है। गीत, नाट्यादि का आनन्द भौतिक रहता है। एक ही मूल प्रवृत्ति समाज में नाना रूप धारण करके आती है। वही एक प्रेम की भावना शृङ्गार, वात्सल्य, ईश्वर-भक्ति, राज-भक्ति, देश-भक्ति के नाना रूपों में दिखाई देती है। धार्मिक और जातीय उत्सव सभी हृदय के आनन्द की अभिव्यक्तियों के भिन्न-भिन्न प्रकार हैं। धार्मिक उत्सव जातीय उत्सवों से प्राचीनतर हैं। धर्म और सभ्यता का साथ साथ उदय हुआ है।

यूनान मे भी तो नाटकों का उदय धार्मिक कृत्यों से ही हुआ था। इँगलिस्तान में भी नाटकों का विकास रामलीला की भाँति क्राइस्ट की जीवन-लीलाओं के अभिनय में हुआ था। फिर धर्म-प्रधान भारतवर्ष मे धर्म के अतिरिक्त और किसी स्रोत को मानने की क्या आवश्यकता है? संस्कृत नाटकों की प्रस्तावनाओं से भी मालूम होता है कि वे प्रायः उत्सवों पर खेले जाते थे। उनमें कुछ धार्मिक थे, कुछ राजकीय। भवभूति के उत्तररामचरित्र की प्रस्तावना से उसका एक धार्मिक अवसर पर खेले जाने का पता चलता है—

"सूत्रधार—बस, अधिक विस्तार का काम नहीं। आज भगवान् कालप्रियनाथ की यात्रा के शुभ उत्सव पर सर्व सज्जन महोदयों को विदित हो कि कश्यपकुल-उजागर अखिल-विद्यासागर जननी जातुकर्णी के पवित्र गर्भोत्पन्न श्रीकंठपदसम्पन्न, जिनका नाम भवभूति प्रसिद्ध है"

(स्वर्गीय सत्यनारायणकृत 'उत्तररामचरित' के अनुवाद से)

 शकुंतला, विक्रमोर्वशीय आदि नाटकों से मालूम होता है कि वे राज-सभाओं में या परिषदों में खेले गये थे। शकुंतला की प्रस्तावना देखिए —

"यह सभा हमारे यशस्वी राजा विक्रमाजीत की है। बड़े बड़े चतुर पंडित इसमें विराजमान हैं...."

निष्कर्ष रूप से हम यह कह सकते हैं कि नाटकों का उदय धार्मिक कृत्यों से हुआ। पीछे से वे लौकिक उत्सवों मे भी अपनाये जाने लगे।

भारतीय नाट्य-कला की प्राचीनता

भारतवर्ष मे सत्य को देश और काल के परे मानने के कारण काल की बहुत कुछ अवहेलना की गई थी। यहाँ पर बौद्ध काल के पहले की चीज़ों का कालक्रम निश्चित करना बहुत कठिन हो जाता है। मिश्र, यूनान आदि देशों मे काल की अवहेलना ऐसी नहीं हुई, जैसी कि भारत में। वहाँ की निश्चित तिथियाँ मालूम होने के कारण वे उन तिथियों की अपेक्षा पुरानी समझी जाती हैं, जिनका कोई समय निर्धारित नहीं है। जहाँ अनुमान से काम लिया जाता है, वहाँ फूँक-फूँककर पैर रक्खा जाता है। इस कारण कभी दृढ़ आधार को भी कमजोर समझकर छोड़ देना पडता है। भारतीय सभ्यता के बहुत पिछडी हुई समझे जाने का कारण किसी अंश में विदेशी विद्वानों का स्वाभाविक पक्षपात हो सकता है किन्तु इसका मूल कारण हमारे यहाँ के विद्वानों की उपेक्षा ही है।

यद्यपि भारतीय नाट्य-कला का यथार्थ समय निर्धारित करना बहुत सहज कार्य नहीं है तथापि बहुत से बाह्य और आन्तरिक कारण हैं, जो उसकी प्राचीनता को प्रमाणित करने मे सहायक हो सकते हैं।

यह ऊपर दिखाया जा चुका है कि वेदों मे नाट्य-साहित्य की सामग्री प्रचुर मात्रा में मौजूद थी किन्तु सामग्री का वर्तमान होना इस बात का प्रमाण नहीं कि वैदिक काल मे नाटक बन गये थे। यह बात असम्भव नहीं किन्तु प्रामाणिक रूप से नहीं कही जा सकती। सूजी, घी, पानी और शक्कर के विद्यमान होते हुए भी यह सम्भव है कि हलवा तैयार न हुआ हो। प्रश्न यह है कि हम को नाटकों के वर्तमान होने का ऐतिहासिक प्रमाण क्या मिलता है?

पाणिनि का समय ईसा पूर्व ४०० वर्ष निश्चय रूप से माना जाता है। पाणिनि के समय में व्याकरण जैसा पेचीदा शास्त्र तैयार हो जाय, उसमें ध्वनि-विज्ञान के सिद्धान्तों का निरूपण हो जाय, ये सब बातें हिन्दुओं

की प्रतिभा के द्योतक हैं। बहुत संभव है कि यह प्रतिभा नाटक-रचना की ओर भी गई होगी। परंतु यह तो अनुमान और कल्पना की बात रही। पाणिनि के सूत्रों मे कृशाश्व* और शिलालिन† नाम के नट-सूत्रकारों के नाम मिलते हैं। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इन नट-सूत्रकारों के ग्रन्थ केवल नृत्त या नृत्य से ही सम्बन्ध रखते थे या नाट्य से। नट का संबंध नाट्य और नाटक से है। नट और नटियाँ अभि-नय करती थीं। इससे बहुत अंश मे यही प्रमाणित होता है कि ये सूत्र अभिनय करने वाले नटों से ही संबंध रखते थे। पातञ्जल महाभाष्य में (ईसा पूर्व १५० वर्ष) कंस-वध और बलि-बंधन का उल्लेख आता है। यह शोभनिक लोगों के द्वारा किया जाता था। इसलिए कंस-वध या बलि-बंध आदि घटनाएँ भूतकालिक होती हुई भी अभिनय द्वारा उनका वर्तमान मे वर्णन होता था। जैसे कंस अब भाग जाता है, बलि बाँधा जाता है।

पाणिनि मे नाटक शब्द नहीं आया किन्तु किन्हीं शब्दों के अभाव से हम कोई मत निश्चित नहीं कर सकते हैं। व्याकरण में उन्हीं शब्दों का उल्लेख आयेगा जिनकी सिद्धि या प्रयोग में कुछ गड़बड हो।

विनयपिटक प्राचीन ग्रन्थ है। उसके चुल्लवग्ग से पता चलता है कि रंगशाला में नर्तकियों से बात करने और नाटक देखने के अपराध में अश्वजित और पुनर्वसु नाम के दो भिक्षुओं को प्रव्राजनीय दण्ड मिला और वे विहार से निर्वासित कर दिये गये।

इसी प्रकार जैन कल्पसूत्रों मे भद्रबाहु स्वामी ने (ईसा से प्रायः ३०० वर्ष पूर्व) जड़वृत्ति साधुओं के सम्बन्ध में एक साधु का उल्लेख किया है, जो नटों का नाटक देखने जाया करता था। एक बार जब वह नटों का खेल देखने गया था, तब उसके गुरु ने मना कर दिया था कि नटों का नाटक देखने न जाया कर। वह एक रोज़ फिर नाटक देखने गया। गुरु के डाँटने पर उसने कहा कि आपने नटों के नाटक देखने को मना किया था, यह तो नटियों का खेल था।

भरतमुनि के नाट्य-शास्त्र का समय निश्चित रूप से नहीं बतलाया जाता तो भी उसमें जिन जातियों का उल्लेख आता है, उससे विदित होता है कि वह बहुत प्राचीन है क्योंकि वे जातियाँ बुद्ध के समय में थीं और फिर लुप्त हो गईं। लक्षण ग्रन्थ तो तभी बनते हैं, जब बहुत से लक्ष्य-ग्रन्थ बन चुकते हैं। नाट्य-शास्त्र में भी 'अमृत-मंथन' और 'त्रिपुर-दाह' नाम के

---

* 'कर्मन्दकृशाश्वादिनि.'। † 'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयो'।

 दो नाटक खेले जाने का उल्लेख मिलता है।

वाल्मीकिरामायण* मे नाटक का उल्लेख हुआ है। अयोध्याजी के वर्णनप्रसङ्ग में रामायणकाल में नाटक ही नहीं थे वरन् नाटक के अभिनेताओं के संघ (Guilds) भी बन चुके थे। हरिवंशपुराण में राम-जन्म तथा कौबेर-रंभाभिसार नाटकों के खेले जाने का सविस्तार वर्णन मिलता है।

नाटकों की प्राचीनता का प्रश्न कालिदास की तिथि पर भी निर्भर है। अँगरेज़ आचार्य लोग कालिदास को चौथी शताब्दी का मानते हैं। कालिदास विक्रमादित्य के समकालीन थे। विक्रमादित्य के समय में बहुत गड़बड़ है। हमारा संवत् विक्रमादित्य से चलता है और वह ईसा-पूर्व ५७ का है। चन्द्रगुप्त द्वितीय (सं० ३५७-४१३) या स्कन्दगुप्त (सं० ४५५-४८०) ने भी विक्रमादित्य की पदवी ग्रहण की थी। इसलिए अँग्रेज इतिहासकार कालिदास को चौथी पाँचवीं शताब्दी का मानते हैं। मन्दसोर के शिलालेख से यह तो निश्चित हो चुका है कि कालिदास ४७२ ईसवी के पीछे के नहीं हो सकते। अब सवाल यह है कि वे कितना पहले थे। राजतरङ्गिणी में एक और विक्रमादित्य का, जो इन गुप्त राजाओं के पहले के हैं, उल्लेख आता है। फिर इसका भी कोई अकाट्य प्रमाण नहीं है कि विक्रमी संवत् पीछे का है। ऐसी अवस्था में कालिदास को ईसा-पूर्व पहली शताब्दी का मानना संगत मालूम होता है। डाक्टर पेटर्सन (Dr. Peterson) लिखते हैं कि अगर पहले नहीं तो कम से कम ईसवी सन् के आरम्भ के आस पास कालिदास अवश्य हुए होंगे†। प्रोफेसर काले भी कालिदास को ईसा-पूर्व पहली शताब्दी का मानते हैं। कालिदास ने अपने मालविकाग्निमित्र में अपने को नये कवियों में गिना है और अपने पूर्ववर्ती भास, कविपुत्र, सौमिल्ल आदि नाटककारों का नाम लिया है। इस प्रकार अच्छे नाटक लिखे जाने की परम्परा कालिदास से दो एक शताब्दी पूर्व चली होगी, जब कि कालिदास अपने को नया कवि समझते हैं।

अश्वघोष के नाटक भी ७८ ईसवी के माने जाते हैं। वे पहले ही नाटककार नहीं मालूम होते।

सरगुजा रियासत की रामगढ़ पहाड़ी में दो गुफाएँ हैं। उनमें से एक में यूनानी ढंग से मिलता-जुलता एक प्रेक्षागृह है। दूसरी गुफा में एक

* वधूनाटकसंघैश्च संयुक्ता सर्वत पुरीम्।

† Kalidasa stands near the begining of the Christian era if he does not overtop it.

लेख है, जिससे मालूम होता है कि वह गुफा सुतनुका नाम की किसी देवदासी की बनवाई हुई है। लोगों का अनुमान है कि वह गुफ़ा नटों के विश्राम के लिए थी। यद्यपि प्रेक्षागृह यूनानी ढंग का है तथापि उसकी चित्रकारी भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के अनुकूल प्रतीत होती है।

वह गुफा ईसा पूर्व ३२० वर्ष पुरानी कही जाती है। यद्यपि वह यूनानी ढंग की है तथापि वह इस बात का द्योतक है कि उस समय मे भी नाट्य-कला का इतना विकास हो गया था कि उनके लिए प्रेक्षा-गृह बनवाये जाने लगे। यूनानी ढंग का होना ऐसा ही है, जैसे कि आजकल अँगरेज़ी ढंग का कोई मकान बनवाना। इसका यह अर्थ नहीं है कि भारत मे इससे पहले मकान नहीं थे।

किसी एक युक्ति को अलग लेने से उसका खण्डन हो सकता है, लेकिन इन सब युक्तियों को एक साथ मिलाने से यही फल निकलता है कि भारत की नाट्य-कला भगवान् बुद्ध के पहले की थी।

भारतीय नाट्य-कला पर यूनानी प्रभाव

पश्चिमी विद्वान् भारतीय सभ्यता को महत्त्व अवश्य देते हैं किन्तु इतना नहीं, जितना कि यूनान और मिश्र को। उनके मत से भारतीय नाट्य कला का उदय चाहे यूनानी प्रेरणा से न हो किन्तु उसकी निश्चित रूपरेखा यूनानी प्रभाव से निर्मित हुई। यूनान और भारतवर्ष का सम्पर्क इतिहास-सिद्ध बात है। इसमे तो झगड़े की गुंजाइश नहीं। किन्तु प्रश्न यह है कि उस सम्पर्क से नाट्य निर्माण मे लाभ उठाया गया या नहीं? दूसरी बात यह है कि यदि हमारे नाटकों का विकास यूनानी सम्पर्क से पहले ही हो चुका है तो यह प्रश्न उठता ही नहीं है। नाटकों की प्राचीनता के प्रश्न से यह प्रश्न सम्बद्ध है। नाटकों की प्राचीनता के विवेचन मे हम बतला चुके हैं कि हम 'विनयपिटक' तक मे नाटकों का उल्लेख पाते हैं। यूनानी-प्रभाव सम्बन्धी कल्पनाएँ प्रायः उस समय की हैं, जब कि यूरोप में कालिदास के नाटकों के सिवाय और किन्हीं नाटकों का ज्ञान न था। उस समय भास और अश्वघोष के नाटक ज्ञात न थे। कालिदास के समय को भी लोग बहुत पीछे हटाये हुए थे।

हम यह मानते हैं कि बौद्ध-कला पर यूनानी प्रभाव है। बहुत से राजाओं ने उनके द्वारा सिक्के भी ढलवाये हों। शिल्प का काम ऐसा है, जो सहज में अनुकरणीय हो सकता है। उसमें भाषा की बात नहीं। यदि

 एक चीज़ में अनुकरण माना जाय तो सभी चीज़ों में अनुकरण मानना युक्तियुक्त नहीं। सब से पहली बात तो यह है कि नाटक का सम्बन्ध जातीय जीवन से है। यूनानी लोग इस देश में इतने व्यापक रूप से नहीं रहे हैं कि उनके नाटक हमारे नाटकों को प्रभावित कर सकें। उसके लिए स्थायी और व्यापक सम्पर्क की आवश्यकता है। उन दिनों यातायात के साधनों मे कमी होने के कारण यह संभव न था कि एक ओर पश्चिम में बसे हुए यूनानी लोग सारे उत्तर भारतवर्ष को प्रभावित कर दें।

हमारे नाटकों की सामग्री सब निजी है। उसका प्रायः रामायण और महाभारत से सम्बन्ध है। उस सामग्री मे किसी बाहरी देश के पौदे की कलम का आभासमात्र भी नहीं है। वह सामग्री उस देशज वृक्ष की लहलहाती सजीवता-भरी शाखाओं की भाँति है कि जिसका मूल आधार वहीं की भूमि है। अब प्रश्न आकार का रह जाता है। क्या नाटकों के आकार-प्रकार में भारत यूनान या और किसी देश का ऋणी है ?

हमारे यहाँ के नाटक अंकों मे विभाजित होते हैं। यूनानी नाटकों मे अंकों का विभाजन नहीं होता था। दो दृश्यों में अन्तर लाने के लिए सम्मिलित गान का, जिसको कोरस (Chorus) कहते हैं, प्रयोग करा दिया जाता था। उपोद्घात से शुरू होकर उपसंहार से अत हो जाता था। रोमन नाटकों में अंक और दृश्यों का विभाजन होता था किन्तु रोमन नाटक बहुत पीछे की चीज़ है। स्वगत कथन आदि की जो समानताएँ बतलाई जाती हैं, वे ऐसी चीज़ें हैं कि कहीं भी यदि नाटक रचा जाय तो वे आ जाएँगी। इसके अतिरिक्त यूनानी नाटकों मे जहाँ ट्रेजेडी अर्थात् दुःखान्त नाटकों की महत्ता थी, वहाँ सुखान्त नाटक (Comedy) अथवा गम्भीरताशून्य नाटकों का भी सृजन हुआ था किन्तु जो महत्त्व दुःखान्त या गम्भीर नाटकों का था, वह सुखान्त का नहीं था। उधार लेना हो तो अच्छी चीज़ उधार ली जाय। जूठा भी खाया जाय तो मीठे को। बेमज़ेदार चीज़ से क्या लाभ ?

यूनानी प्रभाव के पक्षपाती लोग यवनिका शब्द पर अधिक बल देते हैं। उनका कथन है कि यवनिका शब्द यह बतलाता है कि यह नाटकीय सामग्री यवन देश अर्थात् यूनान से आई है। पहले यवन शब्द का विस्तार ही निश्चित नहीं है। यवन फारिस, मिश्र आदि देशवासियों को तथा यूनान देशवासियों को भी कहते हैं। कुछ लोगों का कथन है कि यह यूनान से आए हुए कपड़े से बना हुआ होने के कारण यवनिका कहलाता था। इस

सम्बन्ध मे इतनी दूर की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं। [हिं. १७
पहले तो यह बात है कि यूनानी नाटक में यवनिका जैसी कोई चीज़ ही न थी। इस बात को कीथ (Keith) * ने भी माना है।

इस भ्रम का मूल कारण यह है कि लोगों ने पर्दे के अर्थ में यवनिका शब्द को ही मूल शब्द माना है और जवनिका को यवनिका से बना हुआ समझा है। इस संबंध मे स्वर्गीय जयशङ्करप्रसाद जी इस प्रकार लिखते हैं—

"कुछ लोगों का कहना है कि भारतवर्ष के नाटकों में यवनिका यवनों अर्थात् ग्रीकों से ली गई है। किन्तु मुझे शुद्धरूप से व्यवहृत जवनिका शब्द भी मिला है। अमरकोष† तथा हलायुध‡ में यह शब्द विद्यमान है। अमरकोष और हलायुध दोनों ही प्रामाणिक कोष हैं। इनमें इस शब्द का रूप जवनिका है, यवनिका नहीं।"

यदि यवनिका शब्द ही होता तब तो यवन से इसका सम्बन्ध होना सम्भव भी था किन्तु जब यह शब्द जवनिका है, तब इसका यवन से कोई संबंध नहीं है। प्रसादजी ने जवनिका की व्युत्पत्ति 'जव' शब्द से की है, जिसका अर्थ वेग है। इस प्रकार जवनिका उस पट को कहेंगे, जो शीघ्रता से उठाया या गिराया जा सके।

इस प्रकार जो युक्ति यवनिका के आधार पर उठाई गई थी, वह निराधार हो जाती है।

विन्डिश (Windisch) महोदय ने संस्कृत नाटकों और यूनानी नाटकों मे कुछ समानताएँ दिखाने का प्रयत्न किया है। चिह्नो द्वारा पहचाने जाने की कथाएँ तो और देशों में भी प्रचलित हैं। शाहनामे में रुस्तम ने सुहराब को तावीज द्वारा पहचाना था तो क्या उसमें भी किसी यूनानी कथा की छाया थी ? इसलिए शकुन्तला या रत्नावली की समानता किसी ऐसे यूनानी नाटक से करना, जिसमें कोई नायिका अपने आभूषणों से पहचानी जाती है, मानव स्वभाव की एकता को भूल जाना है। ईश्वर ने जो मस्तिष्क यूनान वालों को दिया, वही भारतवासियों को भी दिया है। यदि दोनों देशों मे एक सी बात सोची भी गई हो तो उसको एक

---

* Nor was there any curtain in the case of Greek Drama, so far as is known, from which it could be borrowed, Windische's contention merely was that the curtain was called Greek because it took the place of the painted scenery at the back of the Greek Stage

† 'प्रतिसीरा जवनिका स्यात् तिरस्करिणी च सा' (अमरकोष)।

‡ 'अपटी काण्डपट. स्यात् प्रतिसीरा जवनिका तिरस्करिणी' (हलायुध)।

८ दूसरे का भावापहरण न कहना चाहिए।

भारतीय नाटक अपनी परम्परा में विकसित हुए हैं। भारत में यूनानियों के आने से पूर्व ही इनका विकास हो चुका था। यूनानियों के आने पर सम्भव है कि इनको कुछ उत्तेजना मिली हो किन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं। निश्चित प्रमाण के अभाव में केवल कल्पना और अनुमान से यह कहना कि यूनानी नाट्य-कला ने भारतीय नाटकों की रूपरेखा को निश्चित किया है, पक्षपात और भ्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता है।

तीसरा अध्याय

नाटक के तत्त्व

नाटक एक प्रकार का काव्य है किन्तु उसकी कुछ विशेषताएँ भी हैं। उन्हीं विशेषताओं के अनुकूल उसके तत्त्व होंगे। नाटक की विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(१) उसमें कथानक होता है किन्तु उस कथानक में पात्रों के व्यक्तित्व की विशेषता रहती है। (२) यह कथानक कवि द्वारा कहा नहीं जाता वरन् अभिनेताओं के कथोपकथन, भाव-भङ्गी और क्रियाकलापों द्वारा रंगमंच पर घटित होता हुआ दिखाया जाता है। (३) यह कार्य किसी उद्देश्य से किया जाता है, चाहे वह सामाजिकों में रस-सञ्चार करने का हो, चाहे सामाजिक समस्याओं को उपस्थित करना हो।

इस प्रकार नाटक के लिए वस्तु (कथावस्तु या प्लॉट), पात्र, उनका चरित्र-चित्रण, अभिनय और उद्देश्य आवश्यक हैं। वस्तु, नायक (पात्र) और रसों के आधार पर नाटकों या रूपकों के भेद बतलाये गये हैं*। इनमें अभिनय इस कारण नहीं दिया गया कि यह तो सब में सम्मिलित रूप से वर्तमान रहता है। नाट्य-शास्त्र में अभिनय चार प्रकार का माना गया है—आङ्गिक या कायिक, वाचिक, आहार्य (वेश-भूषा), और सात्त्विक। कथोपकथन वाचिक अभिनय में आ जाता है। रंगमंच का प्रश्न भी अभिनय से संबद्ध है। इसी प्रकार हिन्दू नाट्य-शास्त्र के अनुकूल चार तत्त्व रहते हैं—वस्तु, नेता या पात्र, रस और अभिनय। वृत्ति को भी पाँचवाँ तत्त्व कह सकते हैं। वृत्तियाँ एक प्रकार से क्रिया-प्रधान शैलियाँ होती हैं। यूरोप की समीक्षा-पद्धति के अनुकूल जो तत्त्व गिनाये जाते हैं,

---

* वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः।

उनका इन तत्त्वों के साथ समन्वय हो सकता है। वे सब अङ्ग इन
अङ्गों में समाविष्ट हो जाते हैं! यूरोपीय समीक्षकों के अनुसार जो उद्देश्य-तत्त्व है, वह भारतीय नाटकों में रस-सञ्चार का रूप ले लेता है।

उपन्यास मे भी कथावस्तु और पात्र होते हैं किन्तु नाटक की रूप-रचना में जो भेद होता है, उसी के कारण इन तत्त्वों मे भी भेद हो जाता है। उपन्यास कमरे में ले जाकर आराम के साथ सप्ताह दो सप्ताह में खतम किया जा सकता है। नाटक के लिए नाट्य-शाला मे बैठना पडता है। परन्तु ऐसा तीन चार घंटे से अधिक नहीं हो सकता है। इसके पात्रों के बारे में नाटककार कुछ नहीं कहता है। उनके चरित्र का उनके क्रियाकलाप और वार्तालाप से उद्घाटन होता है। उस वार्तालाप मे वे चाहे स्वयं अपने बारे मे किसी पात्र से कहे या वे स्वगत कथन में अपने आन्तरिक भावों का परिचय दें या कोई दूसरा पात्र उनके चरित्र पर प्रकाश डाले। स्वयं उनके कार्य भी उनके चरित्र के अनुमापक हो सकते हैं। नाटककार के कथोपकथन मे भी कुछ अन्तर आ जाता है। उसमें कथोपकथन की भाव-भङ्गी द्वारा पूर्ति होती रहती है। यदि इस कारण उसके भाषण कुछ अपूर्ण या संक्षिप्त हों तो भी अन्तर नहीं पड़ता। उपन्यासकार की भाँति नाटककार कुल बातों की व्याख्या करने नहीं आता। इसलिए कथोपकथन कहीं कहीं लम्बे भी हो सकते हैं। नाटक के तत्त्वों का नाटक की आवश्यकताओं के अनुकूल अध्ययन करना होगा। नाटक के दृष्टिकोण को अपने सामने रखते हुए इन तत्त्वों का अध्ययन करना उचित होगा।

वस्तु

नाटक के कथानक को वस्तु कहते हैं। इसको अँगरेज़ी मे प्लॉट (Plot) कहते हैं। यह दो प्रकार की होती है—एक आधिकारिक अर्थात् मुख्य, दूसरी प्रासङ्गिक अर्थात् प्रसङ्गवश आई हुई या गौण। आधिकारिक उसे कहते हैं, जिसमे मुख्य पात्रों से सम्बन्ध रखने वाली कथा का मुख्य विषय हो। अधिकारी कथा का सूत्र प्रारम्भ से अन्त तक रहता है। प्रासङ्गिक वस्तु का सम्बन्ध नायक और नायिका से न रहकर अन्य पात्रों से रहता है। वह कथांभाग मूलकथा की गति को बढ़ाने के लिए होता है।

प्रासङ्गिक कथावस्तु में फलसिद्धि नायक के अतिरिक्त किसी और को होती है। यह फलसिद्धि नायक की अभीष्ट फलसिद्धि से भिन्न होती है किन्तु उससे नायक का हितसाधन अवश्य होता है। रामायण मे राम की कथा तो आधिकारिक कथा है, सुग्रीव की कथा प्रासङ्गिक है। सुग्रीव

 की बालि से रक्षा हुई किन्तु उसके कारण राम की कथा को गति मिली हनुमानजी सीताजी की खोज को भेजे गये, वानरों की सेना तैयार हुई। प्रासङ्गिक कथावस्तु दो प्रकार की होती है—एक पताका और दूसरी प्रकरी। जब प्रासङ्गिक कथा का प्रसङ्ग आधिकारिक कथा के साथ अन्त तक चलता रहे तो वह 'पताका' कहलाती है। जैसे सुग्रीव की कथा। जब यह कथाप्रसङ्ग बीच में ही रुक जाय तो उसे 'प्रकरी' कहते हैं। जैसे शकुन्तला नाटक के छठे अंक में कंचुकी और दासियों का वार्तालाप।

कथावस्तु के आधार के सम्बन्ध से उसके तीन भेद किये हैं—(१) जिसका आधार इतिहास, पुराण या परम्परागत-जनश्रुति होती है, उसको प्रख्यात कहते हैं। (२) जिसको कवि या नाटककार अपनी कल्पना से गढ़ता है, उसको उत्पाद्य कहते हैं क्योंकि वह उत्पन्न की हुई होती है। आजकल के सामाजिक नाटक प्रायः इसी प्रकार के होते हैं। (३) जिसमें इतिहास और कल्पना दोनों का मिश्रण हो, उसे मिश्र कहते हैं। इसमें कल्पना के लिए कवि को काफ़ी गुञ्जाइश रहती है, लेकिन वह एक निर्दिष्ट सीमा के बाहर नहीं जा सकता। इतिहास की मूल बातों में हेर-फेर करना इस स्वतन्त्रता का दुरुपयोग होगा। मूल बात को सरस या ज़ोरदार बनाने के लिए प्रासंगिक बातों में थोड़ा-बहुत फेर-फार अवश्य किया जा सकता है। नाटककार तुलसीदास को औरङ्गज़ेब का समकालीन नहीं बना सकता है और न वह उनको रामोपासक के स्थान में कृष्णोपासक कह सकता है, ऐसा कहने से पाठकों के हृदय को आघात पहुँचेगा।

जहाँ नाटककार देखे कि उसके भाव की सत्यता में अन्तर पड़ता है, वहाँ भाव को ठीक करने के लिए अथवा अपने नायक को दोष से मुक्त करने के अर्थ वह थोड़ी कल्पना से काम ले सकता है। महाभारत में जो दुष्यन्त और शकुन्तला की कथा है, उसमें दुष्यन्त ने लोकापवाद के भय से शकुन्तला को स्वीकार नहीं किया है। यह बात नायक को हमारी निगाह मे नीचे गिरा देगी। नायकों को धीर और उदार वृत्ति वाला होना चाहिए। वैसे भी लोकापवाद-भय से अपनी प्रियतमा को स्वीकार न करना प्रेम के आदर्श के विरुद्ध है। कविकुलगुरु कालिदास ने इसी वैषम्य को देख कर अँगूठी और शाप की कल्पना की। इसके कारण दुष्यन्त दोष से मुक्त हो जाता है।

अवस्थाएँ

भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से कथावस्तु के भाग या अंग बतलाये गये हैं। नाटकों में कार्य के व्यापार की दृष्टि से पाँच अवस्थाएँ मानी गई हैं।

ये एक प्रकार की श्रेणियाँ हैं। ये अवस्थाएँ इस प्रकार हैं—

(१) प्रारम्भ—यह कथानक का प्रारम्भ है। इसमें किसी फल के लिए इच्छा होती है। जैसे शकुन्तला नाटक मे शकुन्तला को देखने की इच्छा। (२) यत्न—जो इच्छा होती है, उसकी पूर्ति का यत्न किया जाता है। दुष्यन्त का माढव्य से उसके बारे मे सलाह करना यह सब प्रयत्न है। (३) प्राप्त्याशा—प्राप्ति की सम्भावना। इसमे विघ्नों का निवारण होकर फलप्राप्ति की आवश्यकता दिखलाई जाती है। शकुन्तला की प्राप्ति मे दुर्वासा ऋषि का शाप विघ्न बन जाता है। चौथे अंक के विष्कम्भक में उनके कोप के किञ्चित् शमन हो जाने से प्राप्त्याशा शुरू हो जाती है। लेकिन वह आशामात्र रहती है। उसमें शाप से मुक्त होने के रास्ते का दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। (४) नियताप्ति—इस चौथी श्रेणी में प्राप्ति की सम्भावनामात्र न रहकर निश्चितता आ जाती है। अँगूठी के मिल जाने से मिलन की आशा निश्चित सी हो जाती है। (५) फलागम—फल की प्राप्ति। हमारे यहाँ के नाटक सुखान्त ही होते थे। इसलिए उनमें फल-की प्राप्ति हो ही जाती थी। सातवें अंक में शकुन्तला और दुष्यन्त का मिलन हो जाता है।

यूरोपीय समीक्षा-शास्त्र में भी इसी प्रकार की पाँच अवस्थाएँ मानी गई हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) व्याख्या (Exposition)। (२) प्रारम्भिक संघर्षमय घटना-(Incident)—संघर्ष आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार का हो सकता है। (३) कार्य का चरम सीमा की ओर बढ़ना (Rising Action)—द्वन्द्व, संघर्ष या समस्या स्पष्टता को पहुँच जाती है। (४) चरम सीमा (Crisis)—जहाँ पर संघर्ष अन्तिम सीमा को पहुँच जाता है, वहीं क्राइसिस आ जाता है। संघर्ष हमेशा नहीं चल सकता है। क्राइसिस पर उसका फल इधर या उधर होने लगता है। (५) संघर्ष मे दो दल होते हैं। उनमें एक पक्ष का ह्रास होने लगता है और दूसरे पक्ष की विजय की सम्भावना हो जाती है। इसको कार्य की ओर झुकाव या डन्यूमाँ (Denoument) कहते हैं और अन्तिम अवस्था मे जब कार्य हो जाता है, इसको केटेस्ट्रोफ़ी (Catastrophe) कहते हैं। यही फल होता है। यह अच्छा भी हो सकता है, बुरा भी हो सकता है। साधारण भाषा में (Catastrophe) बुरे फल को ही कहते हैं। मूल अर्थ मे इस का अर्थ अन्तिम फल है। नाटक के उतार-चढ़ाव का इस प्रकार सांकेतिक

यद्यपि अँगरेज़ी समीक्षा-शास्त्र की भाँति हमारे यहाँ नाटकीय तत्त्वों में कथोपकथन को अलग स्थान नहीं दिया गया है तथापि इस तत्त्व पर पूर्ण रूप से विचार हो गया है। एक प्रकार से कथोपकथन कथावस्तु का अङ्ग होता है क्योंकि कथोपकथन द्वारा ही वस्तु आगे चलती है और दूसरी दृष्टि से यह वाचिक अभिनय का भी अङ्ग है। इस दृष्टिकोण में पाठ के प्रकार, उदाहरण आदि भी आ जाते हैं। कथोपकथन तीन प्रकार का होता है—

(१) श्राव्य—जो सब के सुनने के लिए हो। इसी को प्रकट या प्रकाश भी कहते हैं। (२) अश्राव्य—जो दूसरे पात्रों के सुनने के लिए न हो। यह एक प्रकार का मुखरित रूप से विचार करना है। इसी को स्वगत या आत्मगत कहते हैं। यद्यपि आजकल इसको स्वाभाविकता के विरुद्ध समझकर इसके हटाने का उद्योग किया जाता है तथापि कहीं कहीं इसका प्रयोग स्वाभाविकता बढ़ाने वाला होता है। भावावेश में लोग स्वगत बोलने लग जाते हैं किन्तु यह बड़ा न होना चाहिए। (३) नियत श्राव्य—जो कुछ पात्रों के सुनने के लिए हो और कुछ के लिए न हो। यह दो तरह का है—एक अपवारित और दूसरा जनान्तिक। अपवारित में जिस पात्र से बात को छिपाना हो, उसकी ओर से मुँह फेरकर बात कही जाती है। जनान्तिक में अँगूठा और कन-अँगुली को छोड़कर तीन अँगुलियों की ओट में एक या दो पात्रों को छोड़कर अन्य पात्रों से बात की जाती है।

आकाशभाषित भी कथोपकथन का एक प्रकार माना गया है। इसमें कोई पात्र आकाश की ओर मुँह उठाकर किसी कल्पित व्यक्ति से बात करता हुआ दिखाया जाता है। यह आकाशवाणी नहीं है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का 'विषस्य विषमौषधम्' नाम का भाण आकाशभाषित में ही है।

पात्र

नाटक और उपन्यास मे पात्रों की मुख्यता रहती है। नाटक के सभी तत्त्व पात्रों के ही आश्रित रहते हैं।

नायक या नेता प्रधान पात्र को कहते हैं। नेता शब्द 'नी' धातु से बना है, जिसका अर्थ ले चलना होता है। जो कथा को फल की ओर ले जाता है, वही नेता होता है। इसी को फलप्राप्ति होती है। कहीं कहीं नाटकों या उपन्यासों में यह पता लगाना कठिन हो जाता है कि इसका नायक

जा चुका है कि नायक का सर्व प्रकार की श्रेष्ठताओं से सम्पन्न
होना वाञ्छनीय है। श्रेष्ठता के लिए धीरता आवश्यक है। जो धीर नहीं है, वह न तो वीर ही हो सकता है और न उसे प्रेमी ही कहना ठीक होता है। यद्यपि सभी नायक धीर होते हैं तथापि श्रीरामचन्द्र जी धीरता के आदर्श माने गये हैं।*

धीरोदात्त नायक—यह बड़ा उदारचरित होता है। इसमें शक्ति के साथ क्षमा तथा दृढ़ता और आत्मगौरव के साथ विनय और निरभिमानता रहती है। इसके सब से अच्छे उदाहरण श्रीरामचन्द्र जी और युधिष्ठिर हैं। श्रीरामचन्द्रजी में शील की प्रधानता है। वे अपनी उस बड़ाई को नहीं सुनना चाहते, जिसमे दूसरे का अपमान हो। उत्तररामचरित में चित्रपट को दिखाते हुए जब लक्ष्मण जी परशुराम की ओर इशारा करते हैं, तब वे तुरन्त ही उस दृश्य से आगे बढ़ने को कह देते हैं। नागानन्द नाटक के नेता जीमूतवाहन भी धीरोदात्त नायकों में ही माने गये हैं। वे वास्तव मे धीरप्रशान्त कहलाने योग्य थे लेकिन राजा होने के कारण वे इस गौरव को प्राप्त न कर सके।

धीरललित नायक—यह बड़े कोमल स्वभाव का होता है। यह सुखान्वेषी, कलाविद् और निश्चिन्त होता है। जैसे दुष्यन्त या रत्नावली के वत्सराज। शृङ्गारप्रधान नाटकों में ऐसे ही नायक रहते हैं। दुष्यन्त मे हम ये सब गुण पाते हैं। वह कलाविद् भी है। उसने शकुन्तला का बड़ा सुन्दर चित्र खींचा था।

धीरप्रशान्त नायक—यह क्षत्रिय नहीं होता क्योंकि क्षत्रियों में सन्तोष नहीं पाया जाता†। ऐसा नायक अधिकतर ब्राह्मण या वैश्य होता है। इसका स्वभाव शान्त होता है। जैसे मालतीमाधव मे माधव। इस नायक मे ललित के भी कुछ गुण होते हैं।

धीरोद्धत नायक—यह मायावी, आत्मप्रशंसापरायण तथा स्वभाव से प्रचण्ड और चपल होता है। यह अहङ्कार और दर्प से भरा रहता है।

---

* 'प्रसन्नता या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः। मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मञ्जुलमङ्गलप्रदा॥'—अर्थात् श्रीरामचन्द्रजी के मुख रूपी कमल की शोभा जो राज्याभिषेक से न प्रसन्नता को प्राप्त हुई और न वनवास के दुख से मलिन हुई, वह सदा मेरे लिए मंगल देने वाली हो।

† असन्तुष्टा द्विजा नष्टा· सन्तुष्टाश्च महीभुजः।

ही बढ़ा-चढ़ा था। वे विभाग अधिकतर शृङ्गार रस से ही सम्बन्ध
रखते थे।

इस तरह से संस्कृत नाटकों मे पात्र प्रायः एक बँधे हुए कैंडे के होते थे किन्तु तब भी उन मे व्यक्तित्व रहता था। उत्तररामचरित के राम, सत्य हरिश्चन्द्र के हरिश्चन्द्र आ द नायक अपना व्यक्तित्व रखते हैं। हाँ, नायकों के आदर्श होने के कारण उनमें विकास की कम गुंजाइश रहती है किन्तु उनके विचारों में थोडा-बहुत परिवर्तन अवश्य होता रहता है।

आजकल के नाटकों मे चरित्र-चित्रण की प्रधानता रहती है। उन में चरित्रों का उत्थान, पतन और भावों का संघर्ष पर्याप्त मात्रा में होता है।

भाव का संघर्ष पहले नाटकों मे भी रहता था किन्तु उग्र और स्पष्ट नहीं होता था। पात्र गिरते हैं पर जल्दी सँभल जाते हैं। उत्तररामचरित में शम्बूक के वध के समय राम मे कुछ दया का भाव आया मालूम पड़ता है किन्तु वे तुरन्त उस पर विजय पा जाते हैं। सत्य हरिश्चन्द्र के हरिश्चन्द्र में कमज़ोरी की क्षीण रेखा की झलक आती है किन्तु वह तुरन्त मिट जाती है।

रस

काव्य का विवेचन करते हुए बतलाया जा चुका है कि रस काव्य की आत्मा है। नाटकों में भी रस की प्रधानता है। रस के विना जब काव्य ही नहीं तो नाटक कहां?

अब प्रश्न यह होता है कि यह रस क्या चीज है? साधारण बात-चीत में हम कहते हैं कि हमको हरिकथा सुनने में बडा रस आता है। भोजन के भी षड्रस माने गये हैं। किसी चीज़ के भी आस्वादन से जो आनन्द मिलता है, वही रस है। पारिभाषिक भाषा में इसको इस तरह बतलाया गया है—स्थायीभाव जब विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभावों से पुष्ट होकर अपनी परिपक्वावस्था को पहुँचता है, तब उसके आस्वादन से सहृदय सज्जनों के हृदय में जो आनन्द की जागृति होती है, उसे रस कहते हैं। इस परिभाषा को समझने के लिए कई बातों को जान लेना जरूरी है।

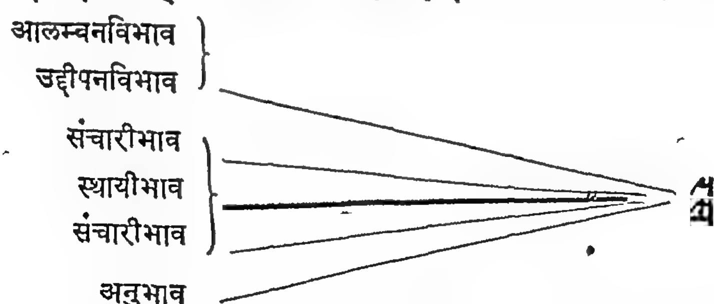
भाव—मन के विकार को भाव कहते हैं। विकार का अर्थ बुरा न समझना चाहिए। विकार परिवर्तन को कहते हैं। किसी वस्तु के देखने से या कल्पना में उस पर विचार करके हमारे मन की जो दशा हो जाती है, उसको भाव कहते हैं। साहित्यशास्त्र में भाव शब्द ज़रा व्यापक रूप में लिया गया है।

है। शोक में पश्चात्ताप की भावना लगी रहती है। इन संचारीभावों की संख्या ३३ मानी गई है।

अनुभाव—आन्तरिक भावों को सूचित करने वाले जो बाह्य अङ्ग-विकार होते हैं, वे अनुभाव कहलाते हैं। जैसे—गुस्से में मुँह लाल हो जाना, दाँत बाहर आ जाना, नथुने फूल जाना, हाथ काँपने लगना, भय मे रोमांच हो आना इत्यादि। यह जान लेना चाहिए कि आश्रय की ही चेष्टाओं को अनुभाव कहते हैं। आलम्बन की चेष्टाएँ उद्दीपन कहलायँगी। श्रीकृष्ण जी का हँसना, किलकना, तोतली बातें करना आदि चेष्टाएँ यशोदा के लिए उद्दीपन का काम देंगी। यशोदा का कृष्ण को गोद मे लेने के लिए हाथ बढ़ाना, उनको पास बुलाकर उनका सिर सूँघना, उनको थप-थपाना ये सब अनुभाव कहलायँगे।

अनुभाव अनेक प्रकार के हो सकते है। उनकी संख्या गिनना असम्भव है। इनमे मुख्य और हमारे सत्त्व से सम्बन्ध रखने वाले भाव सात्त्विक भाव कहलाते हैं। ये कृत्रिम नहीं होते अर्थात् इनका उदय प्रयत्न से नहीं होता। भावावेश मे इनकी उत्पत्ति अपने आप हो जाती है। इनकी संख्या आठ मानी गई है*। स्तम्भ (एक साथ चेष्टा रहित हो जाना), प्रलय (मूर्च्छा), रोमाञ्च, स्वेद (पसीना), वैवर्ण्य (रंग फीका पड़ जाना), वेपथु (काँपना), अश्रु और वैस्वर्य (अर्थात् स्वर का बदल जाना, आवाज भारी हो जाना या लड़खडाकर बोलने लगना)।

रस इन सब भावों का (जिनमें स्थायीभाव मुख्य हैं) सामूहिक प्रभाव है। इसका हम सांकेतिक निरूपण इस प्रकार कर सकते हैं—



विभावों से भावों की उत्पत्ति होती है। स्थायीभाव के चारों ओर संचारीभाव रहते हैं। इसी लिए उन्हे दो जगह लिखा है। स्थायी संचारी-भावों से अनुभावों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार एक कार्यकारण-शृङ्खला

* 'स्तम्भप्रलयरोमाञ्चा स्वेदो वैवर्ण्यवेपथू। अश्रुवैस्वर्यमित्यष्टौ।'

 बन जाती है किन्तु रस की अभिव्यक्ति में ये सभी कारण होते हैं।

भरतमुनि ने केवल आठ ही रस माने हैं। इन्होंने 'शान्त' को नहीं माना क्योंकि उनके मत में इसमें कोई विकार होना सम्भव नहीं और इस का अभिनय भी नहीं हो सकता। पीछे से आचार्यों ने इसे स्वीकार किया है

रस	स्थायीभाव
शृङ्गार	रति
हास्य	हास
करुणा	शोक
रौद्र	क्रोध
वीर (दान, दया, युद्ध)	उत्साह
भयानक	भय
बीभत्स	जुगुप्सा (घृणा)
अद्भुत	विस्मय
शान्त	निर्वेद या शम

निर्वेद संचारीभावों में भी आया है। इसी लिए साहित्यदर्पणकार ने शान्त का स्थायीभाव शम माना है। मम्मट ने निर्वेद को ही शान्त का स्थायीभाव माना है। उन्होंने निर्वेद के दो भेद कर दिये हैं—एक तो वह निर्वेद, जो सांसारिक निराशाओं से होता है; दूसरा वह जो तत्त्वज्ञान से। जिनके लिए अंगूर अप्राप्य होने के कारण खट्टे हैं, वे सच्चे त्यागी नहीं कहे जा सकते किन्तु जिनके लिए अंगूर प्राप्य होते हुए भी त्याज्य हैं, वे ही त्यागी हैं।

भरतमुनि के माने हुए आठ रसों में चार मुख्य माने गये हैं और चार गौण। शृङ्गार, वीर, बीभत्स और रौद्र मुख्य हैं। शृङ्गार से हास का सम्बन्ध है, वीर से अद्भुत का (क्योंकि वीर अद्भुत काम करता है), बीभत्स से भयानक का और रौद्र से करुणा का उदय होता है (क्योंकि गुस्से में ऐसे बहुत से कार्य होते हैं, जिनसे करुणा की उत्पत्ति होती है) किन्तु यह मत बहुत चमत्कारपूर्ण और मान्य नहीं है।

दुःख से सुख क्यों ?

सभी रस आनन्दमय हैं। किन्तु इनमें करुणा, रौद्र, भयानक, बीभत्स—इन चार का सम्बन्ध दुःखमय अनुभवों से है। दुःख से आनन्द

कैसा ? इसके समाधान के लिए लौकिक अनुभव और काव्यानुभव [हिं. ३२ में अन्तर समझ लेना चाहिए। लौकिक अनुभव में व्यक्तित्व की सीमा रहती है। दुःखात्मक अनुभवों मे व्यक्ति का व्यक्तित्व और भी संकुचित हो उठता है, वह अपने मन में कमी का अनुभव करने लगता है। सुखात्मक अनुभवों मे उसको आत्मा का विस्तार दिखाई देने लगता है। हमारे लौकिक अनुभव देश-काल से बँधे होते हैं। जब वे अनुभव काव्य का विषय बनते हैं, तब उनमे व्यक्ति के व्यक्तित्व का और घटनाओं का देश-कालसम्बन्धी बन्धन नहीं रहता है। काव्य में कवि इन क्षुद्र बन्धनों से ऊपर उठ जाता है। उसके लिए कटु और तीव्र अनुभवों की भावनामात्र रह जाती है। काव्य का आलंबन हमारा आलंबन बन जाता है और आश्रय के साथ हमारा तादात्म्य हो जाता है किन्तु यह तादात्म्य वैयक्तिक नहीं है। इस तादात्म्य का आधार है मानवता की सामान्य भूमि। हम अपने व्यक्तिगत नाते से काव्य के आलंबन के प्रति भाव नहीं प्रकट करते वरन् मानवता के सम्बन्ध से करते हैं। काव्य का आलंबन मानव-जाति का आलंबन बन जाता है और हम भी मानव-समाज के एक व्यक्ति होने के कारण काव्य के आश्रय के साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेते हैं। इसी को काव्य में साधारणीकरण का व्यापार कहते हैं। शकुन्तला की विदा कण्व के लिए महत्त्व नहीं रखती वरन् सहृदय मानव-जाति के लिए।

इसी प्रश्न से मिलता-जुलता प्रश्न दुःखान्त नाटकों का है। दुःखान्त नाटकों के देखने से क्यों सुख होता है ? यदि सुख नहीं है तो हम पैसा देकर क्यों आँसू बहाने जाते हैं ? इस सम्बन्ध में अरस्तू (Aristotle) ने तो अपना रेचन (Catharsis) का सिद्धान्त चलाया था। उनका कथन है कि हमारे मन में जो करुणा और भय की मात्रा रही है, यदि वह इकट्ठी होती रहे तो हानिकारक हो जायगी। जिस प्रकार वैद्य हमारे मलों को निकालकर हमारे शरीर को शुद्ध कर देता है, उसी प्रकार दुःखान्त नाटक में कृत्रिम रूप से हमारी ओर भीति (भय) को निकास मिल जाता है।

यह सिद्धान्त सर्वमान्य नहीं है। अँगरेजी के आलोचक (F. L. Lucas) का कथन है कि हम इन भावों को निकालना नहीं चाहते हैं वरन् उनका उपभोग करना चाहते हैं।*

*And so we go to tragedies not in least to get rid of emotions but to have them more abundantly, to banquet and not to purge अर्थात्—हम दुःखान्त नाटकों को देखने के लिए इसलिए नहीं जाते कि हम भावों से अपने को मुक्त कर लें, अपितु इसलिए कि हम अधिक मात्रा में उन्हें पावें।

 इसी सम्बन्ध में दिगम्बर के साहित्य-सन्देश में श्रीयुत कन्हैयालाल सहगल के लेख पर सम्पादकीय टिप्पणी में मैंने जो लिखा है, उसको यहाँ उद्धृत कर देना अनुपयुक्त न होगा—

'इस सम्बन्ध में मैं यह बतला देना चाहता हूँ कि दुःखान्त नाटक अथवा दुःखात्मक नाटक, नाटक तो होते ही हैं और जिस प्रकार और कोई नाटक या काव्य हमको प्रसन्नता देते हैं, उसी प्रकार और उन्हीं कारणों से दुःखान्त नाटक भी प्रसन्नता देते हैं। काव्य या नाटक से हम को क्यों प्रसन्नता होती है ? इसके भी कई उत्तर हो सकते हैं। उनमें से एक यह भी है कि काव्य के द्वारा हमारी आत्मा का विस्तार होता है। हम शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध में आते हैं। नाटक चाहे दुःखान्त हो, चाहे सुखान्त, उसके पात्र हमारे-जैसे हाड, मांस, चाम के पुतले होते हैं और वे हमारी तरह ही इच्छा, द्वेष और प्रयत्न कर सुख या दुःख के भागी बनते हैं। मनुष्य स्वभाव से सहानुभूतिशील है। वह अपने कुल और गोत की वृद्धि चाहता है।

मनुष्य सामाजिक जीव है। वर्तमान सभ्यता का जटिल जीवन अथवा संसार में जीवन के सीमित उपादान उसको प्रतिद्वंद्वशील और असामाजिक बना देते हैं। यद्यपि ऐसे भी लोग हैं, जो 'बिन काज दाहिने बायें' होते हैं तथापि वे विरले हैं और यदि उनका पिछला इतिहास देखा जाय तो ज्ञात होगा कि वे भी जीवन के किसी अभाव या निराशा के कारण ऐसे बने होंगे। नाटक देखने या उपन्यास पढ़ने से हमारे सामाजिक भाव की तृप्ति होती है। नाटक या उपन्यास के पात्रों से हमारा सम्बन्ध किसी कारण से दूषित नहीं होता। वे हमारे प्रतिद्वन्द्वी नहीं होते। उनसे हमारा जमीन-जायदाद का कोई झगड़ा नहीं होता है। उनके प्रति हमको ईर्ष्या और मात्सर्य भी नहीं होता और न उनकी विभूति देखकर हमको जूड़ी आती है क्योंकि ज्यादातर हमको अपने पड़ोसी को मोटर में जाते देखकर ईर्ष्या होती है, दुनिया-भर से नहीं। जिनका ईर्ष्याभाव इतना व्यापक हो जाता है, उनको नाटक या सिनेमा में भी आनन्द न मिलेगा। इस प्रकार नाटक, सिनेमा, उपन्यास, प्रबन्ध-काव्य सभी हमारे सामाजिक भाव की तृप्ति करते हैं। काव्य के द्वारा लौकिक जीवन की कटुता, रुखाई और दाहकता, माधुर्य, स्निग्धता और शीतलता का रूप धारण कर लेती हैं। काव्य के आलंबनों से हमारा निजी सम्बन्ध नहीं रहता वरन् मानवता स्थापित हो जाता है। हमारे लौकिक सम्बन्ध कभी कभी मानवता से

हटे रहते हैं। काव्य के सम्बन्ध मानवता के सम्बन्ध होने के कारण
सत्त्वगुणप्रधान होते हैं। इसी सत्त्वगुण की अभिवृद्धि से तथा जिज्ञासा-वृत्ति से उत्पन्न चित्त की एकाग्रता द्वारा आत्मा का स्वाभाविक आनन्द प्रस्फुटित हो उठता है। यही ब्रह्मानन्द-सहोदर काव्यानन्द है। हिन्दू-शास्त्रों का कुछ ऐसा ही मत है।

दुःखान्त नाटकों का दुःख क्या इस आनन्द में बाधक होता है? इसके लिए हमको दुःख का कारण जानना चाहिए। वास्तविक जीवन में दुःख का कारण निजीपन ही तो है। इसी से ज्ञानी मुक्त होना चाहता है। काव्य द्वारा हम लौकिक जीवन के निजीपन को तो खो देते हैं। उसमें कुछ नुकसान अवश्य होता है क्योंकि सुखानुभूति की तीव्रता कुछ कम हो जाती है। (यदि दर्शक को स्वयं लॉटरी मिल जाय तो उसको नाटक के नायक को लॉटरी या सम्पत्ति मिलते देखने से कहीं अधिक प्रसन्नता होगी) लेकिन उसी के साथ अनुभूति की व्यापकता बढ़ जाती है। तीव्रता के स्थान मे व्यापकता आती है।

नाटक का आनन्द सहानुभूति का आनन्द है। यह वैसा ही आनन्द है, जैसा कि एक परोपकारी जीव को दुःखित और पीड़ितों की सहायता में मिलता है। दुःखान्त नाटकों के देखने से करुण रस की उत्पत्ति होती है। हम शोक नहीं चाहते किन्तु करुण रस मे मग्न होना चाहते हैं। भाव सुख-दुःखमय होते हैं। रस आनन्दमय है।

दुःखान्त या दुःखात्मक नाटकों का दुःख आनन्द में बाधक नहीं वरन सहायक होता है। दुःखान्त नाटक (Tragedy) का मूल अर्थ गम्भीरता-प्रधान (Serious) नाटक था। दुःखान्त नाटकों में जीवन का गाम्भीर्य अधिक होने के कारण उनमें सुखान्त नाटकों की अपेक्षा सहानुभूति की मात्रा अधिक होती है। इस सहानुभूति से हमारी आत्मा का विस्तार होता है। आत्मा का विस्तार ही सुख है। सुखान्त नाटकों में ईर्ष्या आदि के बुरे भाव भी जागरित हो सकते हैं किन्तु दुःख की अतिशयता का भी हमारे ऊपर बुरा प्रभाव पडता है। इसी लिए हमारे यहाँ दुःखात्मक नाटक होते हैं, दुःखान्त नहीं।

भारत में दुःखान्त नाटकों का अभाव

इस सम्बन्ध में एक प्रश्न और रह जाता है। वह यह है कि जब दुःखांत नाटकों से सहानुभूति बढ़ती है, तब संस्कृत नाटकों में दुःखांत

 नाटकों का अभाव क्यों रक्खा ? संस्कृत नाटकों में ऊरुभंग नाटक ही दुःखांत है किन्तु दुर्योधन के मारे जाने से किसी को दुःख नहीं होता।

हमारे यहाँ तो मृत्यु आदि के दृश्य वर्ज्य माने गये हैं क्योंकि करुणा या राजविप्लव आदि भय के सम्बन्धों को मञ्च पर दिखाने से एक प्रकार का लौकिक अनुभव सा हो जाता है और वह उस आनन्द में बाधक होता है, जिसके लिए हम नाटक देखने जाते हैं। दूसरी बात यह है कि सहानुभूति को कृत्रिम रूप से जागरित करने से उसकी शक्ति और तीव्रता कम हो जाती है। लोगों को दुःख में देखते-देखते दूसरों को दुःखी देखने की आदत सी पड़ जाती है और मन में वही मनोवृत्ति उत्पन्न हो उठती है, जो कि शेर के साथ लड़ाई लड़ते हुए ग्लेडिएटर को (वह कैदी जिसको फाँसी का हुक्म होता था) मरते देखने में होती थी। इसीलिए श्रीरामचन्द्रजी ने हनुमानजी से कहा था कि मैं तुम्हारा प्रत्युपकार नहीं करना चाहता क्योंकि मेरी यह इच्छा नहीं है कि तुम पर कभी दुःख पड़े और मैं तुमको उससे मुक्त करूँ। हमारे यहाँ के लोग जीवन का आदर करते थे। वे मनुष्यों का मञ्च पर गाजर-मूली की भाँति काटा जाना पसन्द नहीं करते थे।

इस सम्बन्ध में सब से बड़ी समस्या यह है कि जब तक किसी बड़े आदमी को (बड़े को नहीं वरन् श्रेष्ठ पुरुष को) दुःख न हो, तब तक करुणा और सहानुभूति नहीं उत्पन्न होती है। हरिश्चन्द्र ऐसे सत्यवादी और दशरथ ऐसे दृढ़व्रती को ही दुःख उठाते हुए देख कर हमारे हृदय में करुणा का सञ्चार होता है। लेकिन ऐसे लोगों को दुःख उठाते हुए देखकर हमारी ईश्वरीय न्याय सम्बन्धी भावना को भी ठेस पहुँचती है। राम को वनवास जाते हुए देखकर दैव को ही दोष दिया जाता है।

यूनानी दुःखांत नाटकों मे दुःख का कारण दुर्भाग्य (Nemisis) दिखलाया जाता था। शेक्सपीयर के नाटकों मे दुर्भाग्य किसी खल नायक या धूर्त का (Villain), जैसे ओथेलो में आइगो, रूप धारण कर लेता था और वह अपनी मूर्खता के कारण उसके फंदे में पड़ जाता था। आज कल गाल्सवर्दी आदि के नाटकों में समाज की दुर्व्यवस्था इसका कारण बन जाती है किन्तु फिर भी श्रेष्ठ पुरुषों को दुःखित देखकर ईश्वरीय न्याय की भावना को आघात पहुँचता है। एक ओर दुःखांत नाटकों द्वारा भावों की परिशुद्धि और संस्कार का प्रश्न और दूसरी ओर ईश्वरीय न्याय की रक्षा का निर्वाह, इस 'उभयतः पाश' से बचने के लिए ही संस्कृत नाटककारों

ने दुःखांत नाटकों के स्थान में दुःखात्मक नाटकों की रचना की [३७
थी। उत्तररामचरित्र में करुणा की पर्याप्त मात्रा है किन्तु उसका अन्त वियोगान्त नहीं हुआ है । इसी प्रकार चण्डकौशिक (सत्यहरिश्चन्द्र) में भी करुणा की मात्रा पर्याप्त है किन्तु इसका अन्त सुख में हुआ है। इसके भावों की परिशुद्धि एवं सहानुभूति की जागृति के साथ ईश्वरीय न्याय की भी रक्षा पूरी तौर से हो गई। विश्वामित्र का पश्चात्ताप सत्य की विजय का द्योतक है।

अभिनय

अभिनय नाटक का प्रधान अङ्ग है। अभिनय से नाटक का उदय हुआ है और अभिनय तथा रङ्गमञ्च के सुभीतों की कमी-बेशी के साथ साथ भिन्न-भिन्न देशों की नाट्य-कला में विकास हुआ है।

हमारे देश में नाट्य-शास्त्र के प्रधान आचार्य भरतमुनि ने नाटक के इस तत्त्व की बड़ी विशद विवेचना की है। यह शब्द अभिपूर्वक 'णीञ्' धातु से बना है 'णीञ्' धातु का अर्थ है पहुँचाना। इसके द्वारा नाटक की सामग्री अर्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति की ओर पहुँचाई जाती है।

अभिनय चार प्रकार का माना गया है—आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक*। आङ्गिक के भी शारीर, मुखज और चेष्टाकृत नाम के तीन भेद किये गये हैं आङ्गिक अभिनय में अङ्गों के सञ्चालन के भिन्न-भिन्न प्रकार बतलाये गये हैं। आङ्गिक अभिनय का अनुभावों से तथा परिस्थिति के अनुकूल गतियों से संबंध है। इस प्रसङ्ग में भाँति भाँति से शिर हिलाने का वर्णन आता है। रसों के अनुकूल दृष्टियाँ भी बतलाई गई हैं। वीर, भयानक आदि की दृष्टियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। वीर अपनी दृष्टि को सामने रक्खेगा, लज्जान्वित पुरुष अपनी निगाह नीची कर लेगा, भय वाला दृष्टि इधर-उधर फेरेगा । इसी संबंध में भिन्न-भिन्न प्रकार के नृत्त भी बतलाये गये हैं। इसी आङ्गिक अभिनय में तैरने, घोड़े की सवारी आदि का अभिनय हो जाता था। हाथों के टटोलने का नाट्य करने से अँधेरे का भी भान करा दिया जाता था । इस प्रकार आङ्गिक अभिनय में एक प्रकार से अभिनय का मुख्य भाग आ जाता था । वाणी का अभिनय उसको स्पष्टता दे देता था। आजकल के नाटकों में भी थोड़ा-बहुत मूक अभिनय रहता है (जैसे वरमाला में)। भरतमुनि ने वाणी के

---

* आङ्गिको वाचिकश्चैव आहार्य सात्त्विकस्तथा।
ज्ञेयस्त्वभिनयो विप्राश्चतुर्धा परिकल्पित ॥

 अभिनय में स्वरशास्त्र, व्याकरण तथा छन्दःशास्त्र का परिचय कराया है, जिससे कि अभिनेताओं को स्वरादि का पूरा-पूरा ज्ञान हो जाय। बोलने और पाठ करने की विधियों का भी उल्लेख हुआ है। रसों के अनुकूल छन्दों और रागों का भी निर्देश किया गया है।

इसी सम्बन्ध में आचार्य ने प्राकृत के प्रयोग का भी विधान दिया है। प्राकृत का प्रयोग स्वाभाविकता लाने के लिए ही होता था। जैसे आजकल के नाटकों में कहीं-कहीं गँवारू भाषा आ जाती है और कहीं शहरी भाषा का प्रयोग होता है, उसी प्रकार प्राचीन समय के नाटकों में संस्कृत और प्राकृत का प्रयोग होता था और भिन्न-भिन्न श्रेणी के लोग भिन्न-भिन्न प्रकार की प्राकृत बोलते थे।

प्राचीन समय में भिन्न-भिन्न श्रेणी के लोग भिन्न-भिन्न प्रकार से सम्बोधित किये जाते थे। जैसे—नौकर लोग राजा से 'देव' कहते थे, बौद्धों को भदन्त कहा जाता था, ऋषि लोग राजा को 'राजन्' कहकर सम्बोधित करते थे, विदूषक लोग राजा से 'वयस्य' और रानी से 'भवती' कहते थे। नाट्य-शास्त्र में नाटकीय पात्रों के नामों का भी विधान है। क्षत्रियों के नाम के आगे विजयबोधक शब्द लगाना उचित बतलाया गया है। वैश्यों के नाम के आगे 'दत्त' लगाने का निर्देश है। वेश्याओं के नाम के आगे दत्ता, मित्रा, सेना आदि लगाने का संकेत किया गया है। जैसे—वासवदत्ता, वसन्तसेना। इसी लिए हमारे यहाँ कथोपकथन को अलग तत्त्व नहीं माना है। कथोपकथन संबंधी सब निर्देश वाचिक अभिनय में आ जाते हैं।

आहार्य अभिनय के संबंध मे नाना प्रकार के आभूषणों और वस्त्रों के रंगों का उल्लेख किया गया है। नाट्य-शास्त्र मे भिन्न-भिन्न जाति के लोगों के रंग भी बतलाये गये हैं। गोरे वर्ण का आदर उस समय भी था। देवताओं तथा सम्पन्न लोगों के गौर वर्ण* में सजाये जाने का निर्देश है। रंगों के मिश्रण के भी अच्छे प्रयोग बतलाये गये हैं। भिन्न-भिन्न स्थिति के लोगों के बालों और मूँछों की सजावट की भी विधि दी गई है। विदूषक गंजा दिखाया जाता था (संभवतः इसलिए कि गंजे सिर पर चपत अच्छी जमाई जा सकती है)। बच्चों की तीन चोटियाँ होती थीं (जैसी कि कभी-कभी कंजरों के बालकों की देखी जाती हैं)। नौकरों की भी

* ये चापि सुखिनो मर्त्याः गौरा कार्यास्तु ते बुधैः ।

ऐसी ही चोटियाँ रहती थीं । कभी कभी उनके कटे हुए बाल भी
रहते थे। अवन्ती की स्त्रियों के घुँघराले बाल रहते थे । शिरोभूषा और मुकुटों का भी पूरा-पूरा वर्णन है । युवराज और सेनापतियों के लिए आधे मुकुट का विधान है। इन सब वेश-भूषाओं के अध्ययन से उस समय की सभ्यता पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

सात्त्विक अभिनय के सम्बन्ध में भारतेन्दु बाबू इस प्रकार लिखते हैं—'स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, कंप और अश्रुप्रभृति द्वारा अवस्थानुकरण का नाम सात्त्विक अभिनय है'। सात्त्विक अभिनय के विषय में लोगों को यह आपत्ति है कि कायिक अभिनय को रखकर सात्त्विक अभिनय को क्यों स्वतन्त्र स्थान दिया गया ? इसका उत्तर यही है कि अनुभावों के होते हुए भी जिस प्रकार सात्त्विक भावों को स्वतन्त्र स्थान दिया गया है, उसी प्रकार सात्त्विक अभिनय को भी । सात्त्विक अभिनय का सम्बन्ध भावों से है। सात्त्विक अभिनय में भावों का प्राधान्य रहता है। साधारण कायिक अभिनय में गतियों का भी अभिनय हो सकता है।

वृत्तियाँ

नाटक के तत्त्वों के साथ साथ नाट्य-शास्त्र में उनकी शैलियों का भी वर्णन आता है। इनका सम्बन्ध पूरे नाटक की गतिविधि से रहता है। इनका बड़ा महत्त्व है। इनको 'नाट्यमातरः' अर्थात् नाटक की माताएँ कहा गया है। इनका सम्बन्ध पात्रों के चलने-फिरने के ढंग से है। ये चार मानी गई हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—कैशिकी, सात्वती, आरभटी और भारती।

कैशिकी वृत्ति—यह बड़ी मनोहर वृत्ति है। इसका सम्बन्ध शृङ्गार और हास्य से है। इसमें गीत-नृत्य का बाहुल्य रहता है। यह नाना प्रकार के विलासों से युक्त होती है। गानप्रधान होने के कारण इसकी उत्पत्ति सामवेद से मानी गई है।

सात्वती वृत्ति—इस वृत्ति का संबंध शौर्य, दान, दया, दाक्षिण्य से है। इसमे वीरोचित कार्य रहते हैं। यह आनन्दवर्द्धिनी होती है। इसमें उत्साहवर्द्धिनी वाग्भंगी रहती है। इसका सम्बन्ध वीर रस से है और इसमें थोडा रौद्र और अद्भुत का भी समावेश रहता है। इसकी उत्पत्ति यजुर्वेद से बतलाई गई है।

आरभटी वृत्ति—माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, संघर्ष, आघात-

४०] प्रतिघात और बन्धनादि से युक्त यह वृत्ति रौद्र रस के वर्णन में काम आती है। इस वृत्ति की उत्पत्ति अथर्ववेद से बतलाई गई है।

भारतीवृत्ति—इसमें स्त्रियाँ वर्जित रहती हैं। इसका संबंध पुरुष नटों या भरतों से है। इसलिए भी यह भारती कहलाती है। इसका सम्बन्ध शब्दों से है। साहित्यदर्पणकार का मत है कि सब रसों में भारती वृत्ति काम आती है। भरतमुनि ने इसका संबंध करुणा और अद्भुत से बतलाया है। इसके विषय में भारतेन्दुजी लिखते हैं कि यह केवल वीभत्स में ही काम आती है। भारती वृत्ति का संबंध नाटक के आरम्भिक कृत्यों से भी रहता है। भरतमुनि ने इस वृत्ति की उत्पत्ति ऋग्वेद से बतलाई है।

रूपकों के भेद

हमारे यहाँ रूपकों का विस्तार बहुत बड़ा है। नाटक से रूपक व्यापक है और रूपक से भी व्यापक है नाट्य। रूपक और उपरूपक दोनों नाट्य के अन्तर्गत हैं। रूपकों में रस की प्रधानता रहती है और उपरूपकों में भावों, नृत्य और नृत्त की मुख्यता रहती है। नृत्त में नपा-तुला समय और ताल के साथ पद-संचालन होता है। नृत्य में भाव-प्रदर्शन भी होता है। रूपकों के भेद वस्तु, नायक और रस के आधार पर किये गये हैं। रूपक दश प्रकार के माने गये हैं।*

१ नाटक—यह रूपकों में मुख्य है।

इसकी वस्तु में पाँच संधियाँ, चार वृत्तियाँ, चौसठ सन्ध्यङ्ग माने गये हैं। इसमें पाँच से दस तक अंक होने चाहिएँ, जिससे कि पाँचों संधियों का पूर्ण समावेश हो सके। इसका विषय कल्पित न हो। इसका नायक धीरोदात्त, प्रतापी होना चाहिए। वह राजा हो, राजर्षि हो अथवा कोई अवतारी पुरुष हो। इसमें शृङ्गार, वीर अथवा करुणा रस की प्रधानता रहती है।

उदाहरण—शकुन्तला।

इस कसौटी से आजकल के बहुत से नाटक इस संज्ञा से बाहर हो जायँगे। उस समय की परिभाषा आजकल काम नहीं दे सकती है।

---

* 'नाटकं सप्रकरणमङ्को व्यायोग एव च। भाण॰ समवकारश्च वीथी प्रहसनं डिमः। ईहामृगश्च विज्ञेयं दशकं नाट्यलक्षणम्'। डी॰ आर॰ मनकद ने अपने 'टाइप्स ऑफ इण्डियन ड्रामा' (Types of Indian Drama) में सब का परस्पर सम्बन्ध दिखलाते हुए भाण को सब से पहले का बतलाया है।

२ प्रकरण—इसमें प्रायः नाटक की सी ही वस्तु होती है। [४१
अन्तर केवल इतना है कि इसका विषय कल्पित होता है और इसमें शृङ्गार रस की प्रधानता रहती है। इसका नायक कोई मन्त्री, धनी वा ब्राह्मण हो।

उदाहरण—मालतीमाधव, मृच्छकटिक।

३ भाण—यह एक ही अंक का होता है। इसमें एक ही पात्र होता है, जो ऊपर को मुँह उठाकर आकाशभाषित के ढंग से किसी कल्पित पात्र से बातचीत करता है। इसमे धूर्तों का चरित्र रहता है और खूब हँसाया जाता है।

उदाहरण—भारतेन्दुकृत 'विषस्य विषमौषधम्'।

४ व्यायोग—इसमे एक ही अंक होता है और एक ही अंक की कथा रहती है; स्त्रीपात्रों का अभाव सा रहता है; वीर-रस का प्राधान्य होता है, मुख प्रतिमुख और निर्वहण संधियाँ रहती हैं।

उदाहरण—भारतेन्दुकृत धनञ्जयविजय।

५ समवकार—इसके बारह तक नायक हो सकते हैं। सब को अलग अलग फल मिलता है। इसमें देव या दानवों की कथा रहती है और केवल तीन अंक होते हैं; विमर्श संधि और बिन्दु नाम की अर्थ-प्रकृति नहीं होती। इसमे युद्ध दिखाये जाते हैं।

उदाहरण—नाट्यशास्त्र में उल्लिखित अमृतमंथन। भास का पंच-रात्र इस भेद के निकट आता है। भाषा मे कोई उदाहरण नहीं है।

६ डिम—इसके चार अंक और सोलह नायक होते हैं। इसमे रौद्र रस का प्राधान्य रहता है। इसके नायक देवता, दैत्य वा अवतार होते हैं और जादू तथा माया-जाल रहता है। इसमें शृङ्गार और हास्य वर्जित हैं।

उदाहरण—संस्कृत में त्रिपुरदाह। भाषा मे कोई नहीं।

७ ईहामृग—इसमें एक धीरोदात्त नायक और एक प्रतिनायक होता है। नायक किसी कुमारी की स्पृहा करता है। वह मृग की भाँति दुष्प्राप्य हो जाती है। प्रतिनायक उसे नायक से छुड़ाना चाहता है उसके लिए युद्ध भी होता है। मिलन तो नहीं होता किन्तु किसी का मरण भी नहीं होता। इसमे चार अंक होते हैं।

उदाहरण—नहीं है।

८ अंक—इसमें एक ही अंक होता है। यह करुण-रसप्रधान होता है। इसका नायक गुणी और आख्यान-प्रसिद्ध होता है। इसमें मुख और निर्वहण संधियाँ ही होती हैं।

 उदाहरण—शर्मिष्ठाययाति।

९. वीथी—भाग की भाँति इसमें भी एक अंक होता है। इसका विषय कल्पित होता है। इसमें शृङ्गार और वीर रस के वर्णन रहते हैं।

उदाहरण—लीलामधुकर।

१० प्रहसन—इसमें हास्य रस की प्रधानता रहती है। इसमें एक ही अंक होता है और मुख और निर्वहण संधियाँ होती हैं।

उदाहरण—अंधेर नगरी, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति। आजकल के एकांकी प्रहसन इस परिभाषा पर ठीक उतरेंगे।

उपरूपकों के अठारह भेद हैं। उनके नाममात्र यहाँ पर दिये जाते हैं। उनकी व्याख्या करना पुस्तक को अनावश्यक विस्तार देना होगा। उपरूपकों के नाम इस प्रकार हैं—नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्य-रासक, प्रस्थानक, उल्लाप्य, काव्य, प्रेङ्खणक, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीश और भाणिका।

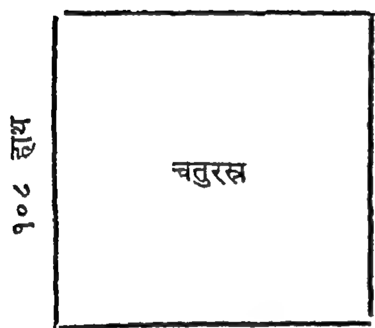
आजकल हिन्दी नाटकों में इन भेदों का कोई उपयोग नहीं होता। आजकल के नाटकों में प्रायः विषय का भेद रहता है। जैसे—ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक। सुखान्त, दुःखान्त का भी भेद हो जाता है। कहीं कहीं यथार्थवाद और आदर्शवाद का भी भेद किया जाता है। वस्तु-प्रधान और भाव-प्रधान का भी भेद हो सकता है। कुछ नाटक, जैसे—ज्योत्स्ना, कल्पना-प्रधान कहे जा सकते हैं। एकांकी, गीत-नाट्य आदि और भी प्रचलित भेद हैं।

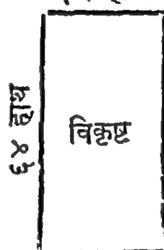
रंगमंच

यद्यपि सब नाटक खेले जाने के ही लिए नहीं लिखे जाते क्योंकि बहुत सी नाटक नाम की रचनाएँ रंगमंच की वस्तु न होकर कक्षस्थ-मञ्चिका (कुर्सी) पर बैठे हुए पाठकों के हाथ की शोभा बढ़ाती हैं तथापि उनके अभिनेय होने में ही उनकी पूर्ण सार्थकता है। हिन्दी का स्वतन्त्र रंगमंच न होने के कारण नाटककार अपनी रचनाओं के अभिनेयत्व पर ध्यान नहीं देते किन्तु यह उनकी अपूर्णता ही कही जायगी। हर्ष की बात है कि आधुनिक नाटककार इस बात का अधिक ध्यान रखते हैं।

संस्कृत नाटक प्रायः अभिनय योग्य होते थे। कुछ लोगों का विचार है कि उत्तररामचरित जैसे क्लिष्ट नाटक श्रव्य अधिक थे। किन्तु उनकी प्रस्तावना से तो यही प्रतीत होता है कि वे खेले जाने के लिए ही [illegible] गये थे।

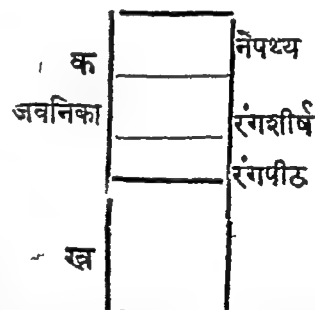
नाट्यशास्त्र में अभिनय और रंगमंच का पूरा पूरा ध्यान
रक्खा जाता था। भरतमुनि ने तीन प्रकार की नाट्य-शालाओं का उल्लेख किया है। चतुरस्र—जिनकी लम्बाई चौड़ाई बराबर होती थी। विकृष्ट—जिन की लम्बाई चौड़ाई से दूनी होती थी। त्र्यस्य—यह त्रिकोण होता था। विकृष्ट ही अधिक अच्छा माना जाता था। चतुरस्र देवताओं के लिए होते थे, विकृष्ट मनुष्यों के लिए और त्र्यस्य घरेलू सीमित दर्शकों के लिए।







यहाँ पर हम एक विकृष्ट रंगमंच के विभाग देकर उस समय की नाट्यशाला का दिग्दर्शन करा देना चाहते हैं।



नाट्यशाला के दो सम भाग रहते थे। पीछे का 'क' भाग अभिनय के लिए और आगे का 'ख' भाग दर्शकों के लिए। पिछले भाग के दो और भाग रहते थे। सब से पिछले भाग को नेपथ्य -गृह कहते थे। इसमें नट लोग अपनी वेश-भूषा सजाते थे और यदि कोई कोलाहल या और कोई जनरव सुनाना होता था तो इसी में से सुनाया जाता था (पुराने नाटकों में ऐसा संकेत रहता था—'नेपथ्ये' या 'नेपथ्य में')। नेपथ्यगृह के आगे के भाग के भी दो भाग रहते थे। नेपथ्यगृह से मिले हुए भाग को रंगशीर्ष और उसके आगे के भाग को रंगपीठ कहते थे। रंगशीर्ष और रंगपीठ के बीच में जवनिका रहती थी। रंगशीर्ष में नाना प्रकार की चित्रकारी दिखाई जाती थी। सम्भवतः और पर्दे भी रहते थे। रंगशीर्ष में ही प्रारम्भिक पूजा आदि होती थी। असली अभिनय रंगशीर्ष में ही दिखाया जाता था। रंगपीठ में तो ऐसे ऊपरी कृत्य होते थे, जो शायद दृश्य

 बदलने के समय होते हों। इसमें नाच वगैरह भी हुआ करता था। सूत्रधार भी अपनी आरम्भिक सूचनाएँ यहीं से देते थे।

आगे के 'ख' भाग में जो दर्शकों के लिए होता था, सोपानाकार (जो आजकल की गैलरियों से मिलती-जुलती होंगी) बैठकें होती थीं। ये बैठकें भिन्न-भिन्न वर्णों के लोगों लिए अलग-अलग होती थीं। इन बैठकों के बीच खम्भों के रंग से यह निश्चय हो जाता था कि वे किस वर्ण के लोगों के लिए हैं।

इन सब चीज़ों के अतिरिक्त बाँसों या कपड़े या चमड़े का और भी समान रहता था जिससे घोड़े, रथ वगैरह दिखाये जा सकें।

हिन्दी रंगमंच

हिन्दी नाटकों के अभिनय के सम्बन्ध में यहाँ दो एक शब्द कह देना अनुपयुक्त न होगा। जब हिन्दी नाटक लिखे जाने आरम्भ हुए, तब उर्दू का बोलबाला था। पारसी थिएट्रिकल कम्पनियाँ व्यावसायिक ढंग पर चल रही थीं। जनता की रुचि परिमार्जित न थी। बदलते हुए रंग-बिरंगे पर्दे तथा चमकीली भड़कीली पोशाकों तथा एक खास ढंग के गानों को सुनकर वे लोग मुग्ध हो जाते थे। वे लोग अधिकतर 'इन्द्र-सभा' 'गुलबकावली' जैसे नाटक खेलते थे। यदि वे लोग कभी हिन्दी नाटक खेलने का साहस करते तो न वे हिन्दी शब्दों का शुद्ध उच्चारण कर सकते और न वे उन नाटकों के अनुकूल वातावरण ही जुटा सकते थे। भगवान् कृष्ण को बिरजिस पहनाकर खड़ा कर देते थे। पोशाकों मे वे देश-काल का ख्याल नहीं करते थे। यह ऐसा ही हास्यास्पद हो जाता था, जैसा कि भगवान् रामचन्द्र की सवारी को आजकल भी 'रोल्सरोइस' मोटर में चित्रित कर हनुमानजी को ड्राइवर बना देना और फिर अपनी सूझ-बूझ पर दाद चाहना। पारसी नाटक मण्डलियों का प्रभाव व्यापक हो चला था। जो और नाटक-मंडलियाँ बनती थीं, वे भी उनका आदर्श लेकर चलती थीं। बङ्गाल भी उनके प्रभाव से न बचा किन्तु वहाँ वह प्रभाव कुछ न्यून रूप मे रहा। दक्षिण में प्राचीन देशी पद्धति कायम रही।

हरिश्चन्द्र के समय में नाटकों का जो अभिनय हुआ, वह वैयक्तिक उद्योग से ही हुआ। नाटकों में तो साहित्यिकता आती गई किन्तु रंगमंच मे कोई सुधार न हुआ। आज प्रसादजी के नाटकों के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे अभिनेय नहीं हैं। उनकी भाषा कुछ दुरूह अवश्य है ... उनके अभिनेय होने में कोई व्यावहारिक बाधा नहीं है। उसके लिए

सुसंस्कृत दर्शक और उसके अनुकूल रंगमंच चाहिए। भाषा की [४५
दुरूहता के संबंध में प्रसाद जी का मत है कि अच्छे अभिनेताओं के हाथ में भाषा दुरूह नहीं रह जाती; अभिनय की टीका के साथ सुबोध हो जाती है। अवाक् चित्रपट तो बिना शब्दों के ही सुबोध होता है। यहाँ पर हम स्वयं प्रसादजी का ही मत उद्धृत करते हैं—

'रंगमंच के सम्बन्ध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जायँ। प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिए रंगमंच हो, जो व्यावहारिक है। हाँ, रंगमंच पर सुशिक्षित और कुशल अभिनेता तथा मर्मज्ञ सूत्रधार के सहयोग की आवश्यकता है।'

प्रसादजी ने हिन्दी रंगमंच की असफलता का एक कारण यह भी बतलाया है कि हिन्दी रंगमंच को स्त्रियों का सहयोग न मिल सका। इस के कारण स्त्रीपात्रों का ठीक अभिनय नहीं हो सकता।

हिन्दी रंगमंच के संबंध मे हम अपने मित्र श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त का एक लेख* उद्धृत करते हैं—

'हिन्दी की अभी तक कोई स्वतंत्र रंगमंच-परिपाटी नहीं बनी, जिसके अनुकूल हमारे नाटकों की रचना हो। हमारे साहित्यिक नाटक वाचनालय की शान्ति में ही रुचते हैं। नाटक के नाम से जो रचनाएँ रंगमंच पर खेली जाती हैं, वे साहित्यिक नहीं होतीं। वे पारसी रंगमंच की दूषित प्रणाली का अनुकरण करती हैं। हिंदी की साहित्यिक जनता दिन प्रतिदिन बढ़ रही है और सफल साहित्यिक नाटकों का अभिनय देखने को उत्सुक है। ऐसी दशा मे हमारे साहित्यकारों का यह कर्तव्य हो जाता है कि रंगमंच की आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए वे नाटक लिखें। हमें हर्ष है कि हमारे तरुण नाट्यकार इधर ध्यान दे रहे हैं।

भारतीय नाटक की प्राचीन परम्परा लुप्तप्राय है। संस्कृत के सुन्दर सुगठित नाटक तो हमें अब भी पढ़ने को मिलते हैं किंतु पुराने नाट्यगृहों की परम्परा सर्वथा खो चुकी है। संस्कृत के अधिकतर नाटक राज-सभाओं के अभिनय की चीज़ थे। शाकुन्तल, मालतीमाधव, मुद्राराक्षस, मृच्छकटिक आदि राज सभाओं के नाटक थे। शायद क्षुद्रक, मालव, लिच्छवि, शाक्य आदि गण-राज्यों में जन-साधारण के रंगमंच की परम्परा रही हो जिसका अब कोई चिह्न भी अवशिष्ट नहीं।

* वीणा दिसम्बर १९३९।

 ग्रीस के नाट्य-गृहों में हजारों दर्शक बैठ सकते थे । वहाँ नाटक देखना धर्म-कार्य समझा जाता था क्योंकि नाट्य द्वारा वे देवता की अर्चना करते थे । इसी प्रकार शेक्सपियर के समकालीन नाट्य-गृहों में जनता अबाध वेग से उमड़ती थी । भारतीय चित्रकला में हमें यह भावना मिलती है । कहते हैं कि अजन्ता की दीवारों के चित्र बौद्ध भिक्षुओं ने बनाये थे। हमारे नाट्य-गृहों मे जो जनता उमड़ती है, वह साहित्यिक नाटक से अभी कितनी दूर है !

भारतेन्दु आधुनिक हिन्दी रंगमंच के जनक थे । आपने अनेक नाटक लिखे और भारतेन्दु-नाटक-मंडली ने उनका सफल अभिनय भी किया । इस रंगमंच ने संस्कृत की परिपाटी को फिर से जीवित किया। 'सत्य हरिश्चन्द्र' हमें संस्कृत के नाटकों का स्मरण दिलाता है । इसका रुख बीते हुए युग की ओर है । 'भारत-दुर्दशा' और 'प्रेम-योगिनी' आदि में आधुनिक समाज का प्रतिबिंब है । 'चन्द्रावली' वास्तव में काव्य है, जिसका कलेवरमात्र नाटक का रूप लिये हुए है । भारतेन्दु की साधना ने हिन्दी रंगमंच को जीवन-शक्ति दी किंतु फिर भी वह पनप न सका। साहित्य का रंगमंच से यह मिलन क्षणिक ही रहा ।

हिंदी-रंगमंच को जीवित करने का दूसरा प्रयास व्याकुल भारत-नाटक-मंडली ने किया । व्यवसायी मंडलियों मे उर्दू का ही बोलबाला था । उनके अभिनेता कभी हिन्दी का व्यवहार भी करते तो विकृत रूप में। देश की प्राचीन संस्कृति से उनका कोई सम्पर्क न था । 'व्याकुल' का नाटक 'बुद्धदेव' बहुत लोकप्रिय हुआ । इस नाटक मे शुद्ध हिंदी का व्यवहार हुआ था और भारतीय संस्कृति की भी सच्ची छाप थी। व्याकुल-मंडली के अभिनेता हिन्दी शब्दों का उच्चारण भी शुद्ध करते थे । (परिशिष्ट में 'बुद्धदेव' का थोड़ा सा नमूना उद्धृत किया गया है) ।

इसी समय स्वर्गीय द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों का हिन्दी में अनुवाद हुआ और कालेज तथा युनिवर्सिटी के छात्रों में इनका खूब प्रचार हुआ । अव्यवसायी मंडलियों ने स्वर्गीय राय महोदय के 'शाहजहाँ', 'मेवाड़-पतन' आदि नाटकों का वर्षों अभिनय किया । इस प्रकार हमारे बीच शुद्ध अभिनय की एक क्षीण परिपाटी जीवित बनी रही । (परिशिष्ट में 'शाहजहाँ' का भी उद्धरण है) ।

पारसी नाटक-मंडलियों का ध्यान भी हिन्दी की ओर फिरा। 'न्यू ऐलफ्रेड' नाटकमंडली के लिए बरेली के पं० राधेश्याम कविरत्न ने

'वीर अभिमन्यु', 'भक्त प्रह्लाद' आदि नाटकों की रचना की। इनकी
भाषा हिंदी अवश्य थी किंतु इन नाटकों मे प्रगति का चिह्नमात्र भी न था। ये पारसीक कथा के केवल हिंदी उल्था थे। इन मंडलियों का अभिनय जीवन-हीन, विकृत और परिपाटीग्रस्त था। पारसी रंगमंच हमें जीवन से दूर किसी मिथ्या-जग में पहुँचाता था। वास्तविकता से यह अभिनय कोसों दूर था।

पं० माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन युद्ध' हिन्दी रंगमंच के इतिहास मे एक स्मरणीय घटना थी। इस नाटक के अनेक सफल अभिनय साहित्य-समितियों ने किये। 'कृष्णार्जुन युद्ध' में साहित्यिकता के साथ-साथ नाट्य-गुण विशेष मात्रा में मौजूद थे। पं० बदरीनाथ भट्ट अधिकतर प्रहसन लिखते थे। आपकी नाटिका 'चुङ्गी की उम्मेदवारी' हास्य में ओत-प्रोत है। हास्यात्मक नाटक का वह प्रखर निर्मल स्वरूप अभी हिंदी में नहीं आया, जिसके अभ्यस्त हम 'शॉ' आदि की नाट्य-कला से हो गये हैं।

'प्रसाद' के साथ हम हिंदी नाटक के इतिहास का नया पृष्ठ पलटते हैं। 'प्रसाद' गम्भीर, सुसंस्कृत और चिंतनशील व्यक्ति थे। आपने गम्भीर साहित्यिक नाटकों की तन्मयता से रचना की। आपकी ऐतिहासिक खोज सराहनीय थी। किंवदन्तियों पर आप कभी निर्भर न रहते थे। अतः 'नागयज्ञ' 'अजातशत्रु' 'चन्द्रगुप्त' 'स्कन्दगुप्त' 'ध्रुवस्वामिनी' आदि आप के नाटक हमारे प्राचीन इतिहास को बड़ी देन हैं। मेरा अनुमान है कि इन नाटकों का अच्छा अभिनय भी हो सकता है किंतु इनकी क्लिष्ट भाषा से अभिनेता कुछ भय खाते हैं। कम से कम विद्यालयों की हिंदी-उर्दूमिश्रित दर्शक-मंडली इस भाषा के लिए तैयार नहीं। एक अनुशासित साहित्यिक जनता ही इन नाटकों के अभिनय में योग दे सकती है। 'प्रसाद' की कृपा से हमारे भंडार मे उच्चकोटि के साहित्यिक नाटक हैं किंतु कोई विशिष्ट रंगमंच उनके अनुरूप हमारे पास नहीं। 'कामना' 'एक घूँट' आदि का अभिनय हम अब भी कर सकते हैं किन्तु अभी तक इनका जीवन वाचनालय और क्लास-रूम तक ही सीमित है।

इसी कोटि मे कवि श्रीयुत पन्त का नाटक 'ज्योत्स्ना' भी आता है। उच्चकोटि की पाठ्यसामग्री तो यह रहा है किन्तु इसके अभिनय का कहीं सफल प्रयास हुआ हो, यह हमें ज्ञात नहीं। इस कार्य को हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन सफलतापूर्वक सम्पादित कर सकता है। वार्षिक अधिवेशन के किसी अवसर पर कवि की देख-रेख में इस नाटक का अभिनय हो

 तो हिंदी रंगमंच के विकास में हमें अवश्य सहायता मिले।

हिन्दी में पिछले वर्षों में नाटक तो खूब लिखे गये हैं किंतु उनके अभिनय कम हुए हैं। स्वर्गीय प्रेमचन्द, श्रीसुदर्शन, पं० गोविन्दवल्लभ पन्त आदि सज्जन नाटककारों के रूप में हमारे सामने आ चुके हैं। तरुण लेखकों में उग्र, अश्क, पं० उदयशंकर भट्ट आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। उग्र का नाटक 'महात्मा ईसा' उनकी गंभीरतम कृति है और विषय के अनुरूप ही उसकी महत्ता भी है। 'ईसा' का हास्य बहुत निर्मल और मनोरम है।

नवयुग के नाट्यकारों के लिए हम यह तो अवश्य ही कह सकते हैं कि उनके नाटक अभिनय के लिए लिखे गये हैं किन्तु हिन्दी का कोई स्वतन्त्र रंगमंच नहीं, इस कारण अभी तक वे सजीव नहीं हुए। भारत के उन्नतिशील चित्रपट का प्रभाव रंगमंच पर भी पड़ेगा। विशेषतः 'न्यू थियेटर्स' के यथार्थवादी अभिनय का प्रभाव अवश्य हिन्दी के अभिनेताओं पर पड़ेगा। इस प्रकार हिन्दी नाटक क्रमशः जीवन के निकट आ रहा है। हम इब्सन, शॉ, गॉल्सवर्दी के नाटक पढ़ते हैं। पाश्चात्य चित्रपट की प्रगति देखते हैं। नये आदर्श हमारे सामने हैं। हम कब तक पारसी-रंगमंच प्रणाली के दास बने रह सकते हैं ? रेडियो ने हमारे बीच एक उन्नति का मार्ग खोल दिया है। हमें हर्ष है कि कुछ साहित्यिकों के नाटक रेडियो पर अभिनीत हुए हैं।

रंगमंच का विकास व्यवसायी दल नहीं करेंगे। उसका नेतृत्व साहित्यिक ही ले सकते हैं। छात्र-मंडलियाँ और अन्य व्यवसायी दल संक्षिप्त नाटक सफलतापूर्वक खेल सकते हैं। हमें हर्ष है कि हिन्दी-संसार का ध्यान एकांकी नाटकों की ओर गया है। श्रीभुवनेश्वर वर्मा का संग्रह 'कारवाँ' हमारे सामने है। 'हंस' ने भी कुछ पहले एक विशेषांक निकाला था, जिसमे केवल एकांकी नाटक थे।

पिछले वर्ष श्रीजगदीशचन्द्र माथुर के दो अति सुन्दर नाटक 'रूपाभ' में निकले—'भोर का तारा' तथा 'जय और पराजय'। 'भोर का तारा' का प्रयाग और आगरा मे बहुत सफल अभिनय हुआ। 'जय और पराजय' से भी यही आशा है। हिन्दी-रंगमंच के विकास के लिए इस श्रेणी के नाटकों की आवश्यकता है। ('भोर का तारा' परिशिष्ट में उद्धृत किया गया है)।

हिन्दी-रंगमंच के भविष्य की हम कुछ कल्पना कर सकते हैं। जनता की अनुभूतियाँ और आशाएँ इस सजीव रंगमंच

केन्द्रित होंगी; भारतीय जीवन के वे निकट होंगी। उसकी भाषा [हिं. ४९ देश के प्रगतिशील जन-समाज को सहज बोधगम्य होगी। उसकी वाणी मे जीवन के प्रति आलोचना-भाव होगा। वह रंगमंच केवल पुराने बेल-बूटों की नकल न करेगा। प्राण-भार से आकुल इस रंगमंच की लोक-प्रियता का अनुमान हम कठिनता से कर सकते हैं। यही रंगमंच पैरीक्लीज के ग्रीस और शेक्सपियर के इंग्लैण्ड मे रचित नाट्य-साहित्य की समता कर सकेगा और कालिदास की मर्यादा का उत्तराधिकारी बनेगा।

किस प्रकार हम उस रंगमंच की सृष्टि में मदद कर सकते हैं? साहित्यिकों की परिषद् इधर ध्यान दे सकती है। हम एक नाट्य-समिति का सूत्रपात करें जिसमें रविठाकुर, शिशुभादुड़ी, उदयशंकर आदि का योग मांगा जाय। धन एकत्र कर एक अभिनयभवन निर्माण किया जाय और समय-समय पर अभिनय योग्य नाटक आमंत्रित किये जायँ। क्या यह बात कल्पनातीत है? हमे ऐसे रंगमंच की जरूरत है, जो हमारी जन-समाज का प्रतिनिधि बन सके, जिसमें हमारी आशा-अभिलाषाएँ प्रतिबिम्बित हों।'

सिनेमा और रंगमंच

यहाँ पर दो एक शब्द सिनेमा के संबंध मे कह देना अनुपयुक्त न होगा। जैसे ही हिन्दी के संबंध मे कुछ जागृति बढ़ी, वैसे ही सिनेमा का उदय हुआ। उसने जनता के मनोरंजन के लिए रंगमंच का स्थान ले लिया। सिनेमा में कुछ सुभीते अवश्य हैं, जो नाटक में नहीं हैं। सिनेमा में चाहे कला कम हो किन्तु वातावरण की वास्तविकता अधिक लाई जा सकती है। स्टेज पर लड़ती हुई रेल, डूबते जहाज़ या आधुनिक युद्ध का दृश्य दिखाना कठिन होगा। सिनेमा के लिए सब सुलभ है। उसमें सब चीज हस्तामलक हो सकती है। इसलिए सिनेरियो लिखने वाला अपने कथानक में दृश्यों को अधिक रख सकता है। उसके लिए घटनाओं की सूचना देने की जरूरत नहीं रहती। उचित वातावरण उपस्थित करने के लिए नाटक-मंडलियों को लम्बा चौड़ा आडम्बरपूर्ण स्टेज का सामान रखना पड़ता है। सिनेमा में यह सब झंझट बच जाती है। फिल्म बनाने वाले को ही सब सामान जुटाना पड़ता है। सिनेमा-भवन वालों को कोई झंझट नहीं करनी पड़ती। सिनेमा का एक ही खेल कई स्थानों में हो सकता है।

ये सब सुभीते होते हुए भी सिनेमा (अभी वर्तमान स्थिति में) रंगमंच का स्थान नहीं ले सकता। सिनेमा आखिर छाया है। वस्तु और

 छाया में बहुत भेद है। हम सिनेमा में यह भूल नहीं सकते कि हम छाया-चित्र देख रहे हैं। नाटक भी वास्तविकता की नकल है किन्तु सिनेमा नकल की नक़ल है। सिनेमा के अभिनय में दिन-प्रतिदिन उन्नति की सम्भावना नहीं रहती। जो भूल हो गई, सो हो गई। वह पत्थर की लकीर बन जाती है। इन सब बातों के अतिरिक्त सिनेमा के अभिनेताओं को दर्शकों के प्रत्यक्ष साधुवाद का प्रोत्साहन नहीं मिलता। इस कारण भी अभिनय में कुछ अन्तर आ जाता है।

इङ्गलैण्ड, अमरीका आदि देशों में सिनेमा की चरम उन्नति होते हुए भी नाटक का मान है। थिएटरों में बैठने के लिए स्थान बहुत पहले से सुरक्षित कराना पड़ता है। इसलिए सिनेमा के अस्तित्व से नाट्य-कला का ह्रास हो जाना आवश्यक नहीं है। यद्यपि गुणग्राहकों की कमी है तथापि सच्चे गुण का मान हुए बिना नहीं रहता।

चौथा अध्याय

नाट्य-साहित्य

(१) संस्कृत के नाटक

यूरोप में भारतीय नाट्य-साहित्य की ख्याति कविकुल-चूडामणि कालिदासकृत शकुन्तला के अनुवाद द्वारा हुई। जर्मन कवि गेटे ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। किन्तु कालिदास सब से पुराने नाटककार नहीं हैं। उनसे पहले अश्वघोष, भास और शूद्रक के नाम आते हैं। कालिदास ने अपने मालविकाग्निमित्र में भास, सौमिल्ल और कविपुत्र का उल्लेख किया था। राजशेखर ने भी भास के नाटकों का उल्लेख किया था। बहुत दिनों तक वे नाटककार केवल नाम से ही ज्ञात थे। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अर्थात् सन् १९१२ में ही श्रीगणपतिशास्त्री द्वारा भास के तेरह नाटकों का पता लगाया गया और मद्रास से उनका सम्पादन हुआ। उनमें से स्वप्न-वासवदत्ता, प्रतिज्ञायौगन्धरायण, बालचरित, प्रतिमा, ऊरुभङ्ग मुख्य हैं। ऊरुभङ्ग दुःखान्त नाटक है। इसकी कथावस्तु का अन्त दुर्योधन की मृत्यु से होता है किन्तु उसकी मृत्यु से किसी को दुःख नहीं होता। हाँ, यह कह सकते हैं कि इसमें संस्कृत नाटकों की प्रचलित प्रथा के प्रतिकूल मरण दिखलाया गया है।

भास के नाटक कालिदास के नाटकों से तो पूर्व हैं, पर उनके

सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि वे कितने पूर्व हैं। उनकी अपेक्षा
कालिदास अपने को नवीन कवि मानते हैं । कवि कब पुराना कहा जा सकता है, इसका कोई निश्चय नहीं है।

प्राचीन नाटकों मे प्रोफेसर लूडर्स (Luders) की खोज मे तुर्फान में अश्वघोष के नाटकों के कुछ अंश मिले हैं। उनमें शारिपुत्रप्रकरण अश्वघोष का प्रमाणित हो चुका है। शूद्रक ने मृच्छकटिक नाटक लिखा है।

कालिदास के तीन नाटक हैं—मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय और अभिज्ञान शाकुन्तल । प्रसिद्ध 'मुद्राराक्षस' नाटक विशाखदत्त का है। इनका समय पाँचवीं शताब्दी माना जाता है। छठी शताब्दी मे शूद्रक ने मृच्छकटिक नाटक लिखा था।

स्थाण्वीश्वर तथा कान्यकुब्ज के राजा श्रीहर्ष ने 'रत्नावली' और 'प्रियदर्शिका' दो नाटिकाओं तथा 'नागानन्द' नाटक की रचना की थी। आठवीं शताब्दी मे कालिदास से टक्कर लेने वाले सुप्रसिद्ध कवि भवभूति हुए हैं। उनके तीन नाटक प्रख्यात हैं। पहला 'महावीर-चरित्र' है। इसमे श्रीरामचन्द्रजी की लङ्का-विजय तक की कथा रक्खी गई है। दूसरा 'उत्तररामचरित' है। इसमें सीताजी के वनवास का वृत्तान्त है । तीसरा 'मालतीमाधव' है। यह एक प्रेमकथा है।

नवीं शताब्दी मे भट्ट नारायण ने 'वेणीसंहार' नाटक लिखा। इसी शताब्दी के लगभग ही मुरारि कवि ने 'अनर्घराघव' नाम का नाटक लिखा। दशवीं शताब्दी में राजशेखर ने 'कर्पूरमंजरी, विद्धशालभंजिका, बालरामायण और बालभारत' नाम के चार नाटक लिखे। ग्यारहवीं शताब्दी में दामोदर मिश्र ने 'हनुमन्नाटक' की रचना की। इसी शताब्दी के अन्त मे कृष्ण मिश्र ने 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक लिखा। प्रायः इसी समय आर्य क्षेमेश्वर ने 'चण्डकौशिक' नाम का नाटक लिखा। इसमें सत्यवीर हरिश्चन्द्र की सहनशीलता और प्रतिज्ञा-पालन का तथा विश्वामित्र की प्रचण्डता का वर्णन है।

संस्कृत में राम और कृष्ण का आश्रय लेकर कई नाटक लिखे गये। उनमें रामकथा पर आश्रित जयदेव का 'प्रसन्नराघव' (गोस्वामी तुलसीदासजी ने इस नाटक से बहुत कुछ लिया है) और चैतन्य महाप्रभु के शिष्य श्री रूपस्वामी के 'विदग्धमाधव' तथा 'ललितमाधव' बहुत प्रख्यात हैं। इन नाटकों का सम्बन्ध कृष्णकथा से है । आचार्य दिङ्नाग की 'कुन्दमाला' भी रामचरित्र को लेकर लिखी गई थी।

 दृश्य काव्य के लक्षण-ग्रन्थों में भरतमुनि का नाट्यशास्त्र प्रधान ग्रन्थ है। अग्निपुराण में भी साहित्य के और अङ्गों के साथ नाटक का विवेचन है। धनञ्जय के दशरूपक का बड़ा मान है। यह दशवीं शताब्दी के अन्त में लिखा गया था। इस पर इसके भाई धनिक की टीका है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ कवि ने भी साहित्यदर्पण के छठे परिच्छेद में नाटकों के तत्त्वों की विशद विवेचना की है।

तेरहवीं शताब्दी के पश्चात् संस्कृत में नाटकों की रचना बंद सी हो गई। इसके दो कारण हैं—एक तो राजनीतिक अशान्ति और दूसरा देश-भाषाओं का विस्तार और प्राधान्य।

उपर्युक्त संस्कृत नाटकों में से बहुत से नाटकों के हिन्दी अनुवाद हो चुके हैं। संस्कृत के अन्य साहित्य की भाँति हिन्दी में नाटकों की उपेक्षा नहीं की गई है। संस्कृत के नाटक लोक-रुचि की वस्तु थे। इनके अनुवादों से हिन्दी-कवियों को पर्याप्त ख्याति भी मिली।

(२) पश्चिमी देशों के नाटक

पाश्चात्त्य देशों के विचारों का मूल स्रोत यूनान और रोम की गंगा-जमुनी धाराओं मे है। उनके नाटकों का स्थानीय आधार अवश्य था किन्तु जहाँ तक आदर्शों का सम्बन्ध था, वे यूनान और रोम से प्रेरणा ग्रहण करते थे। पश्चिमी नाटकों की गति-विधि को समझने के लिए हम को रोम और यूनान के नाटकों का चलता परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक हो जाता है।

यूनान में भी अन्य प्राचीन देशों की भाँति धर्म की प्रधानता थी। वहाँ के नाटकों का उदय धार्मिक नृत्य और गीतों से हुआ था। ये गीत डाइयोनिसस (Dionysus) की प्रसन्नतार्थ वर्षारम्भ के समय गाये जाते थे। इस अवसर पर लोगों के हृदय मे एक विशेष आतङ्क और आदरभाव छाया रहता था। इस समय के गीत अधिकतर गाम्भीर्यपूर्ण होते थे। ये गीत बकरी की खाल ओढ़कर गाये जाते थे। अतः इनसे विकसित होने वाले करुणात्मक नाटक ट्रेजेडी कहलाते थे। ट्रेजेडी (Tragedy) यूनानी ट्रेगोस शब्द से, जिसका अर्थ बकरा है, बना है। ये नाटक यद्यपि सब दुःखान्त नहीं होते थे तथापि इनमें गाम्भीर्य-भाव स्थित रखने के लिए करुणा और भय के भाव (The emotion of Terror and Pity) का प्राधान्य रहता था। गाम्भीर्य बढ़ाने के लिए ही ये नाटक

प्रायः दुःखान्त होने लगे और इनमे घोर और भयानक घटनाओं
का समावेश होना आरम्भ हुआ। मृत्यु से बढ़कर कौन सी चीज़ गाम्भीर्य-वर्धक हो सकती है? इसी लिए ट्रेजेडी का मृत्यु से सम्बन्ध हो गया।

यूनान के दुःखान्त नाटक-लेखकों में ईस्किलस (Aeschylos), सोफ़ोक्लीज (Sophocles), यूरीपिडीज (Euripedes) मुख्य हैं।

गीत में उदय होने के कारण यूनानी नाटकों में सामूहिक गान की, जिसको कोरस (Chorus) कहते हैं, प्रधानता रहती थी। इसके बीच में आ जाने से दृश्य विभाजित हो जाते थे। यूनानी दुःखान्त नाटक प्रायः चेहरे या मुखौटे (Masks) लगाकर खेले जाते थे। अभिनेता लोग विशाल लगने के लिए ऊँची एड़ी के जूते पहन लेते थे। ये जूते बस्किन (Buskin) कहलाते थे।

यद्यपि चेहरे स्वाभाविकता के लिए लगाये जाते थे तथापि ये अभिनय-कला के विकास मे बाधक रहे। बनावटी चेहरों मे भावों का उतार-चढ़ाव कहाँ? यूनान के नाट्य-गृहों के विशाल और खुले होने के कारण उनमें अभिनय-कौशल दिखाना भी कठिन था।

यूनानी हास्य-नाटक (Comedy) जीवन के कुछ अधिक निकट थे क्योंकि करुणात्मक नाटकों का सम्बन्ध तो अधिकतर देवताओं और नेताओं से ही रहता था। ऐसे नाटकों के विषयों में पर्याप्त वैविध्य रहता था। यद्यपि हास्य-नाटकों का उदय भी डाइयोनिसस की ही पूजा से हुआ था तथापि इनके प्रचार वाले वे लोग थे, जो कि खेल तमाशे के लिए धार्मिक कृत्यों मे शामिल होते हैं। ये लोग स्वाँग रचकर अपना मन हलका कर लेते थे। इन स्वाँगो मे अश्लीलता का भी पुट आ जाता था किन्तु इनमें तत्कालीन जीवन की अधिक आलोचना रहती थी। यूनानी हास्य-नाटककारो मे मिनेन्डर ने बड़ी ख्याति पाई है।

पश्चिमी सभ्यता यूनान से हटकर रोम मे पहुँची। यद्यपि रोमन लोग विजेता थे तथापि वे विजित यूनानियो से पूरी तौर से प्रभावित हुए थे। रोम ने राजनीतिक विजय पाई थी किन्तु सांस्कृतिक विजय यूनान की ही हुई। रोम में यूनानी हास्य-नाटकों का अनुकरण हुआ और इनके लिखने मे वे लोग अधिक सफल रहे। इनकी संख्या भी अधिक रही। रोम के करुणा-प्रधान नाट्यकारों मे केवल सिनेका (Seneca) का नाम मिलता है। इसके नाटक श्रव्य अधिक थे, दृश्य कम।

रोम मे भी अभिनय-कला की उन्नति न हो सकी क्योंकि उनके

महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने यूरोप के नाटकों को प्रभावित किया।

यूरोप के प्रारम्भिक नाटक राम-लीलाओं की तरह अधिकतर धार्मिक होते थे। उनमे ईसा मसीह तथा उनके शिष्यों की जीवन-घटनाओं का अभिनय रहता था। ये रहस्य और चमत्कार सम्बन्धी नाटक (Mystry and Miracle Plays) कहलाते थे। इनके पश्चात् नीति-प्रधान नाटक (Morality Plays) आये। ये नाटक प्रायः रूपक और अन्योक्ति-प्रधान होते थे। कभी कभी इनमें अपने यहाँ के प्रबोधचन्द्रोदय आदि नाटकों की भाँति धैर्य, करुणा आदि अमूर्त धार्मिक भावनाओं को पात्र बना दिया जाता था।

यूरोप मे आधुनिक ढंग के नाटकों का उदय पुनरुत्थान काल (Renaissance) से हुआ है। उन दिनों प्राचीन आदर्शों की उपासना सी होने लगी थी। यूनान और रोम के आदर्श तो वे ही रहे किन्तु विषय में परिवर्तन हो गया। नाटकीय कथावस्तु में प्रेम का अधिक समावेश होने लगा। इसी को नियो-क्लासिक (Neo Classic) अर्थात् अभिनव प्राचीनतावादी युग कहते हैं। इसके पश्चात् स्वातन्त्र्य युग (Romantic) आया। इसमें विषय तो प्रेम ही रहा, कथावस्तु में अभिजातवर्ग की ही प्रधानता रही किन्तु प्राचीन नियमों की अवहेलना होने लगी। यह अवहेलना स्वाभाविक ही थी क्योंकि नियम परिस्थितियों के अनुकूल बनते हैं। वे नियम बदली हुई परिस्थिति में केवल नियम होने के कारण उपास्य नहीं हो सकते।

संकलनत्रय (Three Unities)

प्रसङ्गवश यहाँ पर प्राचीन नियमों में से संकलनत्रय के नियम का उल्लेख कर देना अनुपयुक्त न होगा। प्राचीन नाटकों मे स्थल, समय और कार्य की एकता की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था। वे चाहते थे कि जो घटनाएँ नाटक में दिखाई जायँ, उनका सम्बन्ध एक ही स्थान से हो; यह नहीं कि एक दृश्य आगरे का हो तो दूसरा दृश्य कलकत्ते का। इसी को वे स्थल की एकता (Unity of Place) कहते थे। दूसरी बात यह थी कि जो घटना नाटक में दिखाई जाय, वह वास्तव में उतने समय की हो जितना कि नाटक के अभिनय में लगता हो। उसको वे समय की एकता (Unity of Time) कहते थे। ऐसा करने में वास्तविक समय का रंगमंच के समय से ऐक्य हो जाता था। तीसरी बात यह थी कि

कथाओं को स्थान नहीं मिल सकता था। इस नियम को कार्य की एकता (Unity of Action) कहते थे।

ये तीनों बातें यूनानी रंगमंच की आवश्यकताओं के परिणाम-स्वरूप थीं। वहाँ के नाटकों में दृश्य नहीं बदले जाते थे। सामूहिक गान द्वारा, जिसको वे Chorus कहते थे, दो दृश्यों मे अन्तर डाल दिया जाता था। वही पर्दे का काम करता था। उनके रंगमंच पर वास्तव में स्थान बदलता नहीं था। इसी लिए वे स्थान की एकता पर ज़ोर देते थे। यूनानी नाटक आजकल के नाटकों की भाँति दो या तीन घंटे के नहीं होते थे। वे बड़ी देर तक (प्रायः दिन भर से भी अधिक) चलते थे। इसलिए वे समय की काट-छाँट में विश्वास नहीं रखते थे।

कार्य की एकता वैसे तो नाटक की प्रधान आवश्यकताओं में से है। इससे नाटक में उच्छृङ्खलता नहीं आने पाती किन्तु उन्होंने इसे एक अनुचित सीमा तक पहुँचा दिया था। यह उनके अनुकरणप्रधान आदर्श के अनुकूल था। वे रंगमंच और वास्तविक घटनाओं में भेद नहीं रखना चाहते थे। किन्तु कला अनुकरणमात्र नहीं है, उसमें चुनाव रहता है। प्रभाव के लिए घटनाओं को व्यवस्थित रूप में रखना पड़ता है। इसके अतिरिक्त किसी घटना को समझाने के लिए उसके पूर्व घटी हुई बातों का बतलाना भी आवश्यक होता है।

नाटकों मे केवल विवरण (Narration) से काम नहीं चलता। उसमे क्रिया और प्रत्यक्ष अभिनय का अधिक मूल्य होता है। पूर्व की घटनाएँ सब एक ही स्थल में घटित नहीं होतीं। आजकल का समाज पहले से अधिक पेचीदा है। हमारे सम्बन्धों का जाल बहुत दूर तक फैला रहता है। ऐसे समाज में स्थल की एकता का नियम निभाना बड़ा कठिन हो जाता है। इसके लिए पट-परिवर्तन का साधन भी अच्छा है। पर्दे के साथ साथ ही वातावरण बदल जाता है। आजकल तो बिना पर्दा उठे सभी वातावरण और का और हो जाता है। फिर आजकल के लोग स्थलैक्य की क्यों परवाह करने लगे। संस्कृत नाटकों में भी स्थलैक्य की परवाह नहीं की गई। शेक्सपियर ने टेम्पेस्ट (Tempest) के सिवाय और किसी नाटक में इन नियमों की परवाह नहीं की। संस्कृत नाटककार स्थल बदलने के लिए नाटक के भीतर ही पर्याप्त व्याख्या रखते थे। उत्तरराम-चरित में श्रीरामचन्द्रजी अनायास ही दण्डक वन नहीं पहुँच जाते। नाटकीय

 भाव के लिए श्रीरामचन्द्रजी का दण्डक वन जाना आवश्यक था किन्तु इस नियम की अवहेलना करने का यह अभिप्राय नहीं है कि चाहे जैसे दृश्य रख दिये जायँ। एक अंक के भीतर ही एक साथ लाहौर और न्यूयार्क के दृश्य रख देना ठीक नहीं क्योंकि वहाँ पहुँचने में भी समय लगता है। राम को दण्डक वन भेजने के लिए नाटककार को शम्बूक की कथा लानी पड़ी। हमारे यहाँ समय-संकलन का नियम किसी अंश में पाला जाता था। एक अंक में वर्णित कथा एक दिन से अधिक की न होनी चाहिए और दो अंकों के बीच में एक वर्ष से अधिक का व्यवधान न होना-चाहिए। यद्यपि अपने यहाँ यह नियम बड़ा कड़ा था 'वर्षादूर्ध्वं न तु कदाचित्' तथापि इस नियम की भी उत्तररामचरित में अवहेलना हुई। पहले और दूसरे अङ्क के बीच मे ही बारह वर्ष का व्यवधान है किन्तु इस अन्तर को नाटककार ने बड़े कौशल के साथ बतलाया है और मन के ऊपर भारी व्यवधान का सा प्रभाव नहीं पड़ने पाया है। आत्रेयी द्वारा बालकों के बारह वर्ष का हो जाना बतलाया है। हाथी के बच्चे की उम्र से भी समय का भान कराया गया है। श्रीरामचन्द्रजी पूर्वपरिचित दृश्यों को देख कहने लग जाते हैं कि ये गिरि, पर्वत और नदियाँ तो वे ही हैं।

बहु दिन पाछें विपरीत चिह्न देखन सों,
यह कोऊ भिन्न बन से न जिय आवै है।
जहाँ के तहाँ पै किन्तु अचल हेरि,
सोई पंचवटी विसास ये दृढ़ावै है॥

कार्य की एकता हर समय के नाटकों में एक आवश्यक तत्त्व रहता है किन्तु एकता का मतलब शुष्क वैविध्यहीन एकता नहीं। प्रासङ्गिक घटनाओं का बिलकुल बहिष्कार कर नाटक में एकरसता लाना उसके महत्त्व को कम करना है। वैविध्य में ही एकता का महत्त्व है। एकरसता से तो जी ऊब जाता है। अनेकता मे एकता स्थापित करना वस्तु को संगठित बनाना है। बिना अवयवों के संगठन कैसा ? सूखे शहतीर की सी निरवयव एकरसता निर्जीव हो जाती है। हरे-भरे वृक्ष का सा वैविध्य-पूर्ण स्कन्ध-शाखामय ऐक्य ही दर्शकों के लिए नयनाभिराम होता है।*

---

* भरतमुनि ने भी बहुत से कार्यों को एक अंक में लाने का निषेध नहीं किया है किन्तु उनमें अविरोध रखना बतलाया है। यह कार्य की एकता ही है।

'एकाङ्केन कदाचित् बहूनि कार्याणि योजयेद्धीमान्।
आवश्यकाविरोधेन तत्र कार्यानि कार्याणि॥'

रोमान्टिक स्कूल के लोगों ने स्थल और समय की एकता की अवहेलना की और कार्य की एकता को उन्हों ने ऊपर के बतलाये हुए व्यापक अर्थ में लिया। रोमान्टिक स्कूल वालों मे और अभिनव प्राचीनतावादियों में एक बात का और अन्तर था। वह यह कि अभिनव प्राचीनतावादी संस्कृत-नाटककारों की भाँति मंच पर मृत्यु आदि के घोर दृश्यों का दिखाना वर्ज्य मानते थे और उसका अभिनय नहीं करते थे। वे उस घटना के हो जाने की सूचना किसी पात्र द्वारा दिला देते थे। घोर और उग्र घटनाएँ रंगमंच से बाहर हुई समझी जाती थीं और उनका उल्लेख हो जाता था। रोमान्टिक लोग घटना को मंच पर घटती हुई दिखाना अधिक पसन्द करते थे।

शेक्सपीयर इन्हीं रोमान्टिक विद्रोहियों मे से था। वह घोर और उग्र प्रकार की घटनाओं को स्टेज पर दिखलाने मे नहीं चूका। शेक्सपीयर के नाटकों में नाटकों का विषय अधिकतर अभिजातवर्ग का जीवन रहा। शेक्सपीयर ने ट्रेजेडी, कामेडी, दु खान्त, सुखान्त का पार्थक्य भी मिटा सा दिया अर्थात् यह नहीं माना कि ट्रेजेडी के साथ कामेडी का योग न हो सके।

इब्सन का प्रभाव

यूरोप के ड्रामा का इतिहास बडा पेचीदा है। शेक्सपीयर के बाद नाटकीय आदर्शों मे बहुत सा घात-प्रतिघात होता रहा। आधुनिक समय के नाटकों के बारे में दो एक शब्द कहकर इस प्रसङ्ग को समाप्त कर दिया जायगा। आधुनिक नाटकों पर सब से अधिक प्रभाव नार्वेनिवासी इब्सन (Ibson) का है। इब्सन द्वारा नाटकीय आदर्शों में कई परिवर्तन हुए। उन में पाँच बातें मुख्य हैं। पहली यह कि नाटकों का विषय ऐतिहासिक न रहकर वर्तमान समाज और उसकी समस्याएँ हो गया। यद्यपि मानव जीवन की समस्याएँ शाश्वत हैं तथापि वे युग के अनुकूल बदलती रहती हैं। प्राचीन युग में नवीन समस्याओं का अवतरित करना उचित नहीं है। हमको अपने निकट का जीवन अतीत की अपेक्षा अधिक आकर्षक लगता है (इसमें मतभेद हो सकता है)। दूसरी बात यह है कि नाटक का विषय अभिजातवर्ग में ही सीमित नहीं रहा। साधारण कोटि के लोग मानवरुचि का विषय बन गये। बहुत सी सामाजिक समस्याएँ साधारण कोटि के लोगों में केन्द्रित रहती हैं। तीसरी बात यह है कि नाटकों मे व्यक्ति व्यक्ति के द्वेष की अपेक्षा सामाजिक संस्थाओं के प्रति विद्रोह अधिक दिखाया

 जाने लगा। उनमें युवकों के हृदय में उठते हुए विद्रोह की छाया दिखाई देने लगी। जो सामाजिक बन्धन, शील और मर्यादा विक्टोरिया के युग में आदरणीय समझे जाते थे, वे उपेक्षणीय बन गये। चौथी बात यह थी कि बाह्य संघर्ष की अपेक्षा आन्तरिक संघर्ष को प्रधानता मिली। पाँचवीं बात यह थी कि स्वगत कथन आदि कम हो गये और नाटक स्वाभाविकता की ओर अधिक बढ़ा।

इङ्गलैण्ड में गाल्सवर्दी (Galsworthy), बर्नर्ड शॉ (Bernard Shaw) आदि नाटककारों पर इब्सन का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में पडा है। इसके कारण रंगमंच वास्तविक स्थिति के अधिक अनुकूल हो गया है। इसी लिए रंगमंच के संकेतों मे जरा जरा सी बात का ब्योरा दिया जाता है। इसका प्रभाव अपने यहाँ के नाटकों पर भी पड़ा है। देखिए, लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, भुवनेश्वरप्रसाद, पंतजी आदि के नाटक।

अन्य प्रवृत्तियाँ

यूरोप में इब्सन से ही नाटकीय आदर्शों की इतिश्री नहीं हो जाती है। यथार्थवाद की प्रतिक्रिया भी चल रही है। क्षणिक समस्याओं को छोडकर मानव-जाति की चिरन्तन और मौलिक समस्याओं की ओर भी ध्यान आकर्षित किया जाता है। कवित्व और प्रतीकवाद (Poetry and Symbolism) को स्थान मिल रहा है। प्राकृतिक घटनाएँ मानवी समस्याओं की प्रतीक बन जाती हैं। यह एक प्रकार की अन्योक्ति पद्धति है। मेटरलिंक (Materlinck) आदि नाटककारों ने गम्भीर आध्यात्मिक विषयों का विवेचन ही अपना मुख्य ध्येय बना रखा है। वे आध्यात्मिक संघर्ष को नाटक के रूप में घटित दिखाते हैं। आजकल के कुछ नाटकों में कल्पना की भी उड़ान रहती है। पंतजी की 'ज्योत्स्ना' में इस प्रवृत्ति का प्रभाव है। सेठ गोविन्ददास के 'प्रकाश नाटक' में साँड के चीनी के बर्तनों की दुकान में घुस जाने की बात जो प्रारम्भ में दी है, वह भी एक प्रकार का प्रतीकवाद ही है। स्वयं प्रकाश ही वह साँड है।

एकांकी नाटक

इसी युग मे एकांकी नाटकों का उदय हुआ। प्रारम्भ मे ये नाटक समय की पूर्ति के लिए खेले जाते थे। नाटक देखने के लिए कुछ लोग देर में आया करते थे। उन लोगों के लिए समय पर आने वालों को खाली बिठलाना उनके साथ अन्याय था। इसलिए आगंतुकों के मनोविनो-

दार्थ प्रधान नाटक के आरम्भ के पूर्व कुछ छोटे नाटकीय दृश्य दिखाए [५९
जाते थे। लोग इनको अधिक पसन्द करने लगे। आधुनिक एकांकी नाटकों का इन्हीं से उदय हुआ। ये नाटक समय की बचत करने वाली मनोवृत्ति के अधिक अनुकूल हुए।

यद्यपि संस्कृत मे भी रूपकों के प्रकारों में एकांकी नाटक थे तथापि वर्तमान हिन्दी एकांकी नाटकों ने पश्चिमी एकांकी नाटकों से ही प्रेरणा ग्रहण की। हिन्दी नाटक-साहित्य पर बहुत कुछ पश्चिमी प्रभाव है किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि हमारे यहाँ के नाटककार अन्धानुकरण कर रहे हैं, वरन् यह कि जो प्रवृत्तियाँ यूरोपीय नाटककारों के मन में काम कर रही हैं, वे हमारे यहाँ के नाटककारों के मानस को भी प्रेरित कर रही हैं। स्वाभाविकता की पुकार हमेशा सें चली आई है। उसके रूप बदलते रहे हैं। यूरोप से हमारे नाटककारों को उदाहरण मिल जाने के कारण उनका कार्य सहल अवश्य हो जाता है किन्तु उनको सब बातें देशी रंग मे रंगनी पड़ती हैं।

(३) हिन्दी के नाटक

उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व हिन्दी में नाटकों का अभाव

यद्यपि हिन्दी-साहित्य का जन्म एक हजार वर्ष पहले से है तथापि हिन्दी में नाटकों का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। हिन्दी को संस्कृत और प्राकृत साहित्य का उत्तराधिकार मिला था किन्तु उस साहित्य में से नाटक-साहित्य का उपयोग नहीं हुआ था। रीतिकाल मे अलङ्कार ग्रन्थों की प्रचुर सामग्री संस्कृत से हिन्दी मे अवतरित हुई किन्तु उस समय के आचार्य लोग भी संस्कृत के नाटक-साहित्य से उदासीन रहे। इसका क्या कारण है? इसका कारण यही है कि नाटक और खेल-तमाशों के लिए एक जातीय उत्साह की आवश्यकता है। वह उत्साह मुसलमानों के आने के बाद हिन्दुओं मे से उठ सा गया था। काव्य मे जाति के विचारों की झलक रहती अवश्य है और उसके भी फलने-फूलने के लिए जातीय उत्साह की आवश्यकता होती है तथापि नाटक की अपेक्षा काव्य एकान्त साधना की वस्तु है। नाटक का उद्देश्य तभी पूरा होता है, जब कि वह खेला जाय। दौड़-धूप और मार-काट के समय खेल-कूद और हर्षोल्लास के लिए गुंजाइश कहाँ?

इस संबंध में दूसरी बात यह है कि हिन्दुओं को नाटक निर्माण मे

 'आनन्द रघुनन्दन' नाटक विशेषरूप से उल्लेखनीय है। भारतेन्दुजी ने हिन्दी का पहला नाटक होने का गौरव इसी को दिया है।

बाबू हरिश्चन्द्र ने हिन्दी नाटकों का इतिहास देते हुए अपने पूज्य पिताजी श्रीगिरधरदास जी (बाबू गोपालचन्द्रजी) का उल्लेख किया है। इनका जन्म सवत् १८९० में हुआ था। इनके संबंध मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने लिखा है कि इनके 'नहुप नाटक' में नाटकीय नियमों का विधिवत् पालन हुआ है। यह नाटक मौलिक भी है। इसमें भी पद्य का प्राधान्य है और इसके गद्य और पद्य दोनो ही ब्रजभाषा में हैं।

राजा लक्ष्मणसिंह (सन् १८५०-१८९६ ईसवी) ने जो शकुन्तला का अनुवाद किया है, उसमें सस्कृत नाटक के अनुरूप गद्य का भाग गद्य में और पद्य का भाग पद्य में है। यह पद्य भाग बड़ा सरस है। इस अनुवाद मे एक विशेषता और है। वह यह कि इसका पद्यभाग तो ब्रज-भापा मे है किन्तु इसका गद्यांश खडी बोली में है*। यह खड़ी बोली संस्कृतगर्भित हैं, राजा शिवप्रसाद-जैसी उर्दू-मिश्रित नहीं है। इसमें आगरा की भाषा का पुट आ गया है। इस अनुवाद में कालिदास के भावों की पूर्णतया रक्षा हुई है। उसकी सुन्दर भाषा ने मूल शकुन्तला की ख्याति को अक्षुण्ण रक्खा है।

इस प्रकार हम पूर्व-हरिश्चन्द्र-काल के नाटकों में तीन विशेषताएँ पाते हैं। पहली बात तो यह कि वे अधिकांश में अनुवाद थे। दूसरी बात यह कि वे धार्मिक और पौराणिक थे। वे सब ब्रजभाषा में लिखे गये थे और उनके अधिकाश में गद्य भी ब्रजभाषा का था। इन सब में पद्य का प्राधान्य था। गद्य यदि था भी तो एक चौथाई से भी कम।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु† के उदय होने से हिन्दी में नाटक-रचना को एक नया प्रकाश मिला। उस समय तक भारतवर्ष में अँगरेजी नाटकों का प्रचार हो चुका था और उनकी छाप बंगाली नाटकों पर पूरी तौर से पड चुकी

---

* राजा लक्ष्मणसिंह के 'शकुन्तला नाटक' के पहले संस्करण में पद्य नहीं था। यह लन्दन से फेड्रिक पिन्काट के सम्पादकत्व में निकला था। पिन्काट साहब का ख्याल है कि शकुन्तला के इस अनुवाद में बंगाली अनुवाद से सहायता ली गई। किन्तु हिन्दी अनुवाद की उन्होंने बहुत प्रशसा की है।

† जन्म भाद्रपद स० १९०७ वि०, मृत्यु माघ सं० १९४१ वि०।

थी। भारतेन्दु बाबू प्रतिभावान् व्यक्ति थे। उन्होंने अपने आप अँगरेजी,
बंगला और संस्कृत के अध्ययन का पूरा पूरा लाभ उठाया। यद्यपि आप कट्टर वैष्णव थे तथापि नवीन विचारों से पूरी तौर से प्रभावित थे। आपके पूज्य पिताजी ने नई रोशनी के लिए अपने घर के किवाड बिलकुल बन्द नहीं कर रक्खे थे। उनके सम्बन्ध मे भारतेन्दुजी लिखते हैं—'विना अँगरेजी की शिक्षा के भी उनको वर्तमान समय का स्वरूप भली भाँति विदित था' ऐसे घर मे जन्म लेकर उनमे प्राचीन और नवीन संस्कारों का सुखद समन्वय हुआ था। यह समन्वय-भाव उनकी नाटक-रचना मे भी दृष्टिगोचर होता है। उनके नाटक न तो प्राचीन परिपाटी के अन्धानुकरण हैं और न वे बिलकुल नये साँचे मे ही ढले हैं। कुछ लोगों की दृष्टि में यह बात गुण न रहकर दोष हो गई है।

भारतेन्दु बाबू के अनुवाद किये हुए नाटकों में तो मूल के अनुरूप प्रस्तावना थी ही किन्तु उनके मौलिक नाटकों मे भी उसका नितान्त तिरस्कार नहीं हुआ। 'अंधेर नगरी' आदि में जहाँ विधिवत् प्रस्तावना नहीं है, वहाँ भी अप्सराओं या नर्तकियों द्वारा कुछ मंगल या जयगान करा दिया है। नान्दी का अर्थ हमारे यहाँ व्यापक लिया गया है। जिससे प्रसन्नता हो, उसे नान्दी कहते हैं। इसमें राजाओं का यशोगान भी आ जाता है।

इस प्रकार वे प्राचीनता से बिलकुल हटे नहीं थे किन्तु कथावस्तु के सन्धि आदि अङ्गों की उन्होंने विशेष परवाह न की थी। उन्होंने भरत-वाक्य भी बड़े सुन्दर लिखे हैं। 'सत्य हरिश्चन्द्र' के भरत-वाक्य मे देश-भक्ति की पूरी पूरी छाप है। देखिए—

खलगन सों सज्जन दुखी मत होईं हरिपद रत रहै।
उपधर्म छूटै, सत्त्व निज भारत गहै, कर-दुख वहै।
बुध तजहिं मत्सर, नारि-नर सम होहिं, सब जग सुख लहै।
तजि ग्रामकविता सुकविजन की अमृतवानी सब कहै॥

उस समय को देखते हुए भारतेन्दु बाबू अपने कथानकों मे पर्याप्त नवीनता ला चुके थे और उनके सहारे धार्मिक ढोंग तथा मद्यपान आदि व्यसनों के सम्बन्ध में अच्छे व्यङ्ग्य भी कर सके थे किन्तु उनके पात्रों के चरित्र आदर्श रूप से भले या बुरे ही रहे। उनमें विकास और सुधार कम दिखाई देता है। सत्य हरिश्चन्द्र में थोडी-सी कमज़ोरी आने पाई है, वह भी केवल रेखामात्र। उनका चरित्र इतना आदर्श है कि उनके मन में द्वन्द्व

 उठने ही नहीं पाता। अन्तर्द्वन्द्व तभी उठता है, जबकि मनुष्य का आदर्श रूप से न अच्छा हो और न बुरा। हमारे यहाँ के आचार्य अन्तर्द्वन्द्व उठाकर कर्तव्य मे शङ्का नहीं उठाना चाहते थे। भवभूति ने 'उत्तररामचरित' मे थोड़ा अन्तर्द्वन्द्व दिखाया है किन्तु राम कर्तव्य से नहीं हटते वरन् अपने निजी दुःख से सीता निर्वासन का प्रायश्चित्त करते हैं।

भारतेन्दुजी ने अपने समय की नाटक-रचना के आदर्शों के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है—

'इन नवीन नाटकों की रचना के मुख्य उद्देश्य ये होते हैं। यथा— (१) शृङ्गार (२) हास्य (३) कौतुक (४) समाज-संस्कार (५) देशवत्सलता।' भारतेन्दुजी ने इन आदर्शों को पूरी तौर से निभाया है।

भारतेन्दुजी के नाटक

विद्यासुन्दर—यह चौर कवि की 'चौर-पञ्चाशिका' नाम की रचना के आधार पर लिखे हुए बङ्गला नाटक का छायानुवाद है। 'विद्या-सुन्दर' भारतेन्दुजी की नाटक सम्बन्धी पहली कृति है। इसकी रचना संवत् १६२५ में, जब कि वे केवल १८ वर्ष के थे, हुई थी। इसमे राजकुमारी विद्या और राजकुमार सुन्दर के प्रेम का वर्णन है।

रत्नावली—यह अपूर्ण है। इसमें केवल प्रस्तावना और विष्कम्भक है। यह अनुवाद ग्रन्थ है।

पाखण्ड-विडम्बन—यह 'प्रबोधचन्द्रोदय' के तृतीय अङ्क का अनुवाद है।

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति—यह बड़ा सुन्दर प्रहसन है। ईस में उन लोगों की हँसी उड़ाई गई है, जो अपनी इन्द्रियों की तृप्ति के लिए मांस-मदिरा को धार्मिक विधान मानते हैं। पाखण्डी लोग अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए किस प्रकार धार्मिक ग्रन्थों का सहारा लेकर जनता को धोका देते हैं, इस बात का अच्छा दिग्दर्शन कराया गया है। इसका व्यङ्गय बड़ा शिष्ट और पांडित्यपूर्ण है।

धनञ्जय-विजय—यह कांचन-कवि-रचित इस नाम के व्यायोग का भाषान्तर है। इसमें राजा विराट के यहाँ रहते हुए अर्जुन की कौरवों पर विजय और चुराई हुई गौओं के वापस ले आने का वर्णन है।

प्रेमयोगिनी—यह ग्रन्थ आत्म-कथात्मक है। स्वयं भारतेन्दुजी इसके नायक रामचन्द्र के रूप में प्रकट होते हैं। इसमे तत्कालीन समाज । वर्णन बड़ी निर्भीकता के साथ किया गया है। यह नाटक अपूर्ण है।

सत्य हरिश्चन्द्र—भारतेन्दुजी के मौलिक नाटकों में [हिं. ६५ इसका बहुत ऊँचा स्थान है। इसमें आर्य क्षेमेश्वर कृत 'चण्डकौशिक' की एक क्षीण छाया है। यह उसका अनुवाद नहीं है। इसके कथानक में भी अन्तर है। इसमें सत्य का बहुत ऊँचा आदर्श दिखाया गया है। स्वप्न मे भी कही हुई बात का 'बेंच देह-दारा-सुवन' पालन किया गया है। स्वप्न में दान देने की बात हरिश्चन्द्रजी की निजी कल्पना है। इसमे करुणा के साथ वीर रस (दानवीर) का अच्छा परिपाक हुआ है। यह नाटक १६३२ में लिखा गया था। १६४० मे इसका बलिया में पहली बार अभिनय हुआ था।

मुद्राराक्षस—यह विशाखदत्त के बनाये हुए इस नाम के संस्कृत नाटक का अनुवाद है। इसका विषय राजनीति है। राजनीति का सा शुष्क विषय भी कवि की लेखनी के जादू से सरस बन गया है।

कर्पूरमञ्जरी—यह सट्टक प्राकृत से अनूदित है। इसके मूल लेखक हैं कवि राजशेखर। इसमें एक लम्पट राजा की प्रेम-कथा है। इसमें शृङ्गार के साथ हास्य का भी मिश्रण है।

विषस्य विषमौषधम्—यह भाण का अच्छा उदाहरण है। इसमें आकाश-भाषित द्वारा एक नट के मुख से महाराज मल्हारराव गायकवाड़ के अत्याचारों और उसके फलस्वरूप उनके राज्यच्युत होने का वर्णन है।

चन्द्रावली—इस नाटिका में भारतेन्दु बाबू की अनन्य वैष्णवता की छाप है। यहाँ हम उनके प्रेम के आदर्श का दर्शन कर सकते हैं। इसमें प्रेम की तन्मयता पूरी तौर से दिखाई पड़ती है। प्रेम वियोग की अग्नि में तपकर स्वार्थ और ऐन्द्रिकता के कलुष से मुक्त हो जाता है और एक दैवी रूप धारण कर लेता है। यह नाटक की अपेक्षा काव्य अधिक है।

भारत-दुर्दशा—यह राजनीतिक नाटक है। इसमें भारत की अवनति के कारण दिखाये गये हैं। उसके प्राचीन गौरव का भी दिग्दर्शन कराया गया है। साथ ही वर्तमान की शोचनीय अवस्था को दिखलाकर देशवासियों को उसके उद्धार के लिए उद्योगशील होने का संकेत दिया गया है। (परिशिष्ट में नमूना देखिए)

भारतजननी—इसमे भी देश की दुर्दशा का दिग्दर्शन कराया गया है। यह किसी दूसरे कवि की लिखी हुई कृति है। भारतेन्दुजी ने इसको सुधार कर एक नया रूप दिया था। यह एक बंगला नाटक की छाया है।

नीलदेवी—यह नाटक भारतीय स्त्रियों को अङ्गरेज़ी स्त्रियों की भाँति कार्यकुशल देखने की अभिलाषा से लिखा गया था। इसमें नीलदेवी

 का वीरतापूर्ण कौशल दिखलाया गया है । नवाबी दरबार का भी चित्रण अच्छा हुआ है ।

अंधेर-नगरी—यह एक प्रहसन है। इसमे भोजन भट्टों की रसना-लोलुपता का दुष्परिणाम तथा अनाड़ी राजाओं की न्यायविडम्बना दिखाई गई है ।

सतीप्रताप—इसमें सावित्री सत्यवान् की कथा है। इसको राधा-कृष्णादास ने पूरा किया था ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दुजी ने प्रायः सभी प्रकार के नाटक लिखे थे । यद्यपि उनके नाटकों में कुछ-कुछ आदर्शवादिता थी तथापि उनमें सामाजिक दशा का चित्रण अच्छा है । प्राचीन नाटकों की भाँति हास्य विदूषक में केन्द्रित न होकर नाटक की सम्पूर्ण वस्तु में व्यापक हो गया है । उनका हास्य उद्देश्य-पूर्ण था । उनमें देश-प्रेम और देश-सुधार की भावना पूर्ण रूप से दिखाई पड़ती है । नाटक की रचना-पद्धति में भारतेन्दुजी ने पूर्व और पश्चिम का समझौता सा किया किन्तु उनके नाटकों की आत्मा भारतीय ही रही ।

कुछ आक्षेपों पर विचार

भारतेन्दुजी की देश-वत्सलता के बारे मे यह समस्या उठाई गई है कि वे अँगरेजी राज्य के प्रशंसक भी थे और उसी के साथ पूरे-पूरे देश-प्रेमी भी थे, दोनों बातें किस प्रकार सम्भव हैं ? शायद वे देशप्रेम के नाते ही अँगरेजी राज्य की सुव्यवस्था के प्रशंसक रहे हों। अँगरेजी राज्य से जो हानि थी, वह उनको अखरती ही थी— 'पर धन विदेश चलि जात यही अति ख्वारी' ।

भारतेन्दु-नाटकावली की प्रस्तावना में यह आपत्ति उठाई गई है कि एक देशी राजा के पतन पर प्रसन्नता दिखाना देशप्रेम के विरुद्ध है। 'विषस्य विषमौषधम्' में यह स्पष्ट ही है कि जो देशी राजाओं के अत्याचार की औषध है, वह भी विष स्वरूप ही है । स्वदेशाभिमान में अपनी कम-ज़ोरियों को छिपाना अनुचित तो नहीं है किन्तु जहाँ वे हद से बढ़ जाँ तो उनका उद्घाटन कर देना श्रेयस्कर ही होता है ।

'नीलदेवी' के सम्बन्ध में भी ऐसी ही आपत्ति उठाई गई है कि आर्य-ललना का मुसलमानी दरबार में नर्तकी के भेष मे जाना भारतीय मर्यादा के विरुद्ध है । यह बात किसी अंश में ठीक है किन्तु साध्य के उत्तम होने से साधनों की नीचता क्षम्य हो जाती है । पद्मावती ने भी

तो ऐसा ही किया था । उसने अलाउद्दीन से विवाह की स्वीकृति
भेज दी थी।

भारतेन्दु बाबू के 'भारत-दुर्दशा' नाटक के संबंध मे यह आपत्ति उठाई गई है कि वह दुःखान्त है, उसमे आशा का संदेश नहीं है। यह ठीक है किन्तु कहीं कहीं करुणा का आधिक्य लोगों को उद्योगशील बना देता है। करुणा में प्रायः वीररस की आवृत्ति हो जाती है—'आइ गयउ हनुमान जिमि करुना महँ वीररस'। कवि का लक्ष्य जागृति उत्पन्न करना था, वह चाहे आशा और उत्साह द्वारा हो और चाहे करुणा के द्वारा।

हरिश्चन्द्रजी के प्रकृति-चित्रण के बारे में भी यह आपत्ति उठाई गई है कि उन्होंने शहर के ही दृश्यों का वर्णन किया है। गंगाजी की शोभा भी प्राकृतिक शोभा नहीं है, घाटों की ही शोभा है। इसको हम दोष नहीं कहते। कवि जिस चीज़ से प्रभावित होता है, उसका ही वर्णन करता है। आजकल तो अँगरेजी के कवि शहर की प्रकृति का काफ़ी वर्णन करते हैं।

गंगाजी के वर्णन मे कालदूषण दिखाया गया है कि हरिश्चन्द्रजी महाराज भगीरथ के पूर्वजों में से थे। फिर उनके समय मे गंगाजी कहाँ से आईं ? यह ठीक है। सत्य हरिश्चन्द्र के अंतिम अंक के बड़े होने को मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के विरुद्ध बतलाया गया है। लोग जब नाटक देखते देखते उकता उठते हैं तो वे बड़े अंक से और भी ऊब जाते हैं। यह आपत्ति भी किसी अंश में ठीक है।

हरिश्चन्द्र के नाटकों मे त्रुटियों के होते हुए भी हमको उनकी प्रतिभा मुक्तकंठ से स्वीकार करनी पड़ेगी। वे पहले नाटककार थे, जिन्होंने हिन्दी-साहित्य में नाटकों को एक निश्चित रूप दिया। उन्होंने अपने नाटकों को अभिनय योग्य बनाने का प्रयत्न किया और उनके अभिनय में भाग भी लिया। खेद है कि भारत का इन्दु अपने पूर्ण विकास को न पहुँच सका।

भारतेन्दु के समय के नाटककार

भारतेन्दुजी स्वयं ही कलाकार न थे वरन् उनके प्रभाव से और भी कलाकार बने। इसी लिए तो वे युग-प्रवर्तक कहलाये। उनके समय के नाटककारों में श्रीनिवासदासजी का नाम पहले आता है। इनका जन्म संवत् १६०८ में हुआ था। ये बड़े प्रतिभाशाली थे। इनका उपन्यास 'परीक्षागुरु' हिन्दी के अच्छे उपन्यासों में से है। यह कहना अनुचित न होगा कि ये पहले मौलिक उपन्यासकार थे। इनको भारतेन्दु बाबू ने अपना मित्र करके लिखा है। इनके 'तपतीसंवरण' को हिन्दी का चौथा

 नाटक बतलाया है। प्रह्लादचरित, संयोगिता-स्वयंवर और रणधीर-प्रेममोहिनी इनके अन्य नाटक हैं। 'रणधीर-प्रेममोहिनी' इनका दुःखान्त नाटक है। हरिश्चन्द्र के समय से ही दुःखान्त नाटकों के निषेध का नियम ढीला हो गया था। इस नाटक में प्रस्तावना की अवहेलना हुई है।

श्रीबदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने 'भारतसौभाग्य' नाटक लिखकर आशा का सञ्चार किया, किन्तु कला की दृष्टि से यह नाटक शिथिल था। तोतारामजी (जन्म संवत् १६०४) के 'केटोकृतान्त' को भारतेन्दुजी ने नाटकों की गणना में छठा स्थान दिया है। पं० गदाधर भट्ट ने पाँच नाटक लिखे, जिनमे दो बंगला से अनुवाद किये हुए थे और तीन मौलिक। उनके तीनों मौलिक नाटक 'रेल का विकट खेल' 'बाल-विवाह' तथा 'चन्द्रसेन' सामाजिक हैं। इस प्रकार उस समय सामाजिक नाटकों का भी सूत्रपात हो चला था।

पं० प्रतापनारायण मिश्र उस समय के चमकते हुए सितारों में से थे। उन्होंने कई प्रहसनों के अतिरिक्त 'गोसंकट नाटक' 'कलिप्रभाव' 'जुआरी खुवारी' और 'हठी हमीर' नाम के चार नाटक लिखे। 'हठी हमीर' उन्हीं हमीर के सम्बन्ध में है, जिनके बारे में कहा गया है कि 'तिरिया तेल हमीर हठ, चढ़ै न दूजी बार'।

इनके नाटकों मे हमको उस प्रतिभा और सजीवता का परिचय नहीं मिलता, जो उनके अन्य गद्य-लेखों में है।

श्रीराधाकृष्णदास जी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के फुफेरे भाई थे। उन्हीं के यहाँ रहने से वे उनके प्रभाव में थे। उन्होंने चार नाटक लिखे। इनका 'दुःखिनी बाला' सामाजिक नाटक है। उसमें तत्कालीन विवाहसम्बन्धी प्रचलित प्रथाओं का दुष्परिणाम दिखलाया गया है। 'महारानी पद्मावती' और 'महाराणा प्रताप' इनके दो ऐतिहासिक नाटक हैं। 'धर्मालाप' एक प्रकार से धार्मिक वाद-विवाद के रूप में है। इन्होंने भारतेन्दुजी के 'सतीप्रताप' नाटक को, जिसे वे अपूर्ण छोड़ गये थे, पूर्ण किया था। 'महाराणा प्रताप' नाटक मे अधिकारी कथा के साथ-साथ एक प्रासङ्गिक प्रहसन भी चलता है। यह प्रवृत्ति पारसी थियेटरों में खेले जाने वाले नाटकों में अधिकतर मिलती है।

श्रीकेशवराम भट्ट ने 'सज्जाद-संबुल' और 'शमशाद-सौसन' नाम के दो नाटक लिखे थे। इनकी विशेषता यह है कि इनके पात्र मुसलमान हैं और इनमें उर्दू शब्दों की भरमार है। यह बात तो इनके नाम से ही प्रकट

होती है।

इस काल में कुछ संस्कृत नाटकों का, जैसे—'मृच्छकटिक' का गदाधर भट्ट द्वारा और कुछ बंगला नाटकों का, जैसे—'कृष्णकुमारी' आदि का रामकृष्ण द्वारा अनुवाद हुआ। इस काल में श्रीराधाचरण प्रभृति और भी कई नाटककार हुए हैं किन्तु विस्तारभय से उनका वर्णन नही दिया जाता।

इस प्रकार उस समय के नाटकों में निम्नोल्लिखित प्रवृत्तियाँ दृष्टि-गोचर होती हैं। पहली बात तो यह थी कि प्रस्तावना आदि की अवहेलना हो रही थी। दूसरी बात यह कि पौराणिक विषयों की अपेक्षा नाटककारों का झुकाव सामाजिक विषयों की ओर हो चला था। गद्य की भाषा में कहीं कहीं उर्दू का मिश्रण अधिक हो जाता था और हास्य तथा व्यङ्गय की मात्रा भी अधिक थी। उस काल मे ऐतिहासिक नाटकों की भी नींव पड़ गई थी।

नवीन युग

बीच की श्रृंखला

कालचक्र की गति स्थिर नहीं रहती है। समाज में नई नई विचार-धाराएँ उपस्थित हो साहित्य मे भी अपने अनुकूल परिवर्तन किया करती हैं। जो आज नया कहलाता है, वह कल पुराना हो जाता है। यद्यपि हिन्दी का नाटक-साहित्य नवीन युग की देन है तथापि उसमें भी नये और पुराने का अन्तर हो गया है। यह युग हमारे बहुत निकट होने के कारण इसके बारे में हम कठिनता से कह सकते हैं कि कहाँ पर प्राचीन समाप्त होता है और कहाँ से वर्तमान का उदय होता है। इन दोनों को मिलाने वाला एक मध्यकाल भी है, जिसको आचार्य शुक्लजी ने द्वितीय उत्थान कहा है किन्तु वह बड़ा क्षीण है।

इसमें श्रीद्विजेन्द्रलाल राय तथा रवि बाबू के अनुवादों का प्राधान्य रहा। यद्यपि हिन्दी नाटकों मे निजी प्रेरणाओं से गद्य की ओर झुकाव हो चला था क्योंकि गद्य का युग आ गया था तथापि राय महोदय के अनुवादों ने इस झुकाव को और भी स्पष्टता दे दी। राय महोदय के नाटक इतिवृत्तात्मक अधिक थे यद्यपि उनमें भी भावावेश की कमी न थी। (परिशिष्ट में 'शाहजहाँ नाटक' का उदाहरण देखिए) रवीन्द्र बाबू के नाटकों मे भावात्मकता अधिक रहती है और उन नाटकों के कथानकों में कुछ व्यञ्जना भी रहती है। वे एक प्रकार के रूपक बन जाते हैं।

 अनुवादों के अतिरिक्त कुछ मौलिक नाटक भी लिखे गये। इनमें कुछ तो साहित्यिक दृष्टि से लिखे गये और कुछ तत्कालीन पारसी रंगमञ्च के साथ समझौते के रूप मे लिखे गये। और मौलिक नाटकों मे मिश्रबन्धुओं का 'नेत्रोन्मीलन' पं० बदरीनाथ भट्ट के 'दुर्गावती' 'चन्द्रगुप्त' 'वेनचरित्र' आदि कई नाटक हैं। उन्होंने 'चुगी की उम्मीदवारी' नाम का एक प्रहसन भी लिखा था। उस समय के और भी कई साहित्यिक नाटक हैं। जैसे राय देवीप्रसाद पूर्ण का 'चन्द्रकलाभानुकुमार' तथा मैथिलीशरण गुप्त का 'चन्द्रहास'। पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का 'मधुरमिलन' सामाजिक नाटक है (यह संवत् १६७७ में कलकत्ते में साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर खेला गया था इसमें गुंडों की चालाकियों का उद्घाटन किया गया है)। नाटक-कम्पनियों के लिए लिखने वालों में नारायणप्रसाद 'बेताब', पं० राधेश्याम कथावाचक, पं० हरिकृष्ण जौहर और आगा हश्र प्रधान हैं। बेताबजी का 'महाभारत' बहुत लोक-प्रिय हुआ। इनके नाटकों में यद्यपि थोड़ा बहुत उर्दूपन रहा तथापि इसके द्वारा हिन्दी को रंगमंच पर स्थान मिल गया। इनमें उर्दू की तुकबन्दी भी थोड़ी बहुत रही। इस तरह के नाटकों मे व्याकुलजी का 'बुद्धचरित' बहुत अच्छा है (परिशिष्ट में इसका उदाहरण देखिए)। यह छपा तो हाल ही में किन्तु लिखा पहले गया था। कथावाचक राधेश्यामजी के नाटक अधिकतर पौराणिक हैं। उनके 'वीर-अभिमन्यु' की बहुत ख्याति है। इन नाटकों में आधिकारिक कथा के साथ समानान्तर रेखा मे चलने वाली प्रासङ्गिक कथा भी कहीं कहीं दिखलाई देती है। इन नाटकों ने साहित्य का गौरव बढाने की अपेक्षा लोकरुचि का अधिक साधन किया।

इस बीच के युग में संस्कृत के नाटकों का भी अच्छा अनुवाद हुआ। अवधवासी रायबहादुर लाला सीतारामजी ने हमको संस्कृत नाटक-साहित्य के अमूल्य रत्नों का अनुवाद कर एक प्रकार से महाराज भगीरथ का सा काम किया। श्रीसत्यनारायणजी ने भवभूति के दो नाटकों— 'उत्तररामचरित' और 'मालतीमाधव' का अनुवाद बड़ी सरल भाषा में किया। 'उत्तररामचरित' जैसे क्लिष्ट समास-प्रधान शैली वाले नाटक का अनुवाद करना हँसी-खेल नहीं था। उनका यह अनुवाद बडा लोक-प्रिय हुआ और इसके द्वारा हिन्दी-जनता को भवभूति की प्रतिमा का अच्छा परिचय मिला है।

हिन्दी नाट्य-साहित्य का प्रारम्भिक काल जिस प्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से आरम्भ होता है, वैसे ही उसका यौवन काल जयशङ्करप्रसादजी से प्रारम्भ होता है। बाल से यौवन काल तक पहुँचने में विकास की कई श्रेणियों को पार करना पडा है। पहले पहल उसका पद्य से गद्य की ओर झुकाव हुआ। पद्य ब्रजभाषा का ही रहा और गद्य खडी बोली का। प्रस्तावना आदि की क्रमशः अवहेलना हुई। धार्मिक विषयों से हटकर कुछ ऐतिहासिक और सामाजिक नाटक भी लिखे गये। विषय के सम्बन्ध में एक बात और हुई। वह यह कि दैवी घटनाओ को कम महत्त्व दिया जाने लगा। जहाँ दैवी सहायता से कोई काम होता है, वहाँ मनुष्य का महत्त्व नहीं रहता। पहले नाटकों के चरित्रों मे आदर्शवादिता अधिक थी। इस कारण अन्तर्द्वन्द्व भी कम होते थे। क्योंकि आदर्श चरित्रों में कमज़ोरी के अभाव के कारण मानसिक सङ्घर्ष नहीं होता था। श्रीरामचन्द्रजी राज्य को 'कीर के कागर ज्यों' छोडकर चले गये थे। भीतरी और बाहरी सङ्घर्ष नये युग के नाटकों का प्रधान स्वर बन गया। यह पश्चिम की देन तो है ही लेकिन पहले से समाज भी अधिक सङ्घर्षमय हो गया है। वह सङ्घर्ष साहित्य में भी प्रतिबिम्बित होने लगा। शुरू शुरू में जो सङ्घर्ष दिखाई देता था, वह हिन्दू-मुस्लिम बाह्य सङ्घर्ष था। महाराणा प्रताप आदि यद्यपि अपना व्यक्तित्व रखते थे तथापि ये जाति के ही प्रतिनिधि थे। धीरे-धीरे आदर्शवादिता कम हुई और चरित्र के विकास को स्थान मिला। जहाँ आदर्श चरित्र है वहाँ विकास कहाँ? विकास तो नवेन्दु का होता है, पूर्वेन्दु का नहीं। चरित्र के विकास और अन्तर्द्वन्द्वों को क्रमशः स्थान मिला। यह बात हम प्रसादजी के नाटकों में विशेष रूप से देखते हैं। वे अन्तर्द्वन्द्वप्रधान हैं। उनमें बाह्य सङ्घर्ष भी है। वह सङ्घर्ष यद्यपि व्यक्तियों का है तथापि वे व्यक्ति भी अपनी अपनी संस्कृतियों के प्रतिनिधि हैं। 'चन्द्रगुप्त-नाटक' मे चोट चन्द्रगुप्त और सिकन्दर की नहीं है वरन् चाणक्य और अरस्तू की है अर्थात् भारतीय और यूनानी सभ्यता की।

प्रसादजी के नाटक-क्षेत्र में प्रवेश के साथ हिन्दी-नाटकों में एक बात और आई। वह यह कि पहले नाटकों में हास्यव्यङ्ग्य अधिक था, इतिवृत्तात्मकता भी थी, भावप्रदर्शन था किन्तु साथ ही उनमें शब्दों का तूफ़ान अधिक था और भावगाम्भीर्य न था। जैसी अन्तर्वेदना हम प्रसादजी के नाटकों में पाते हैं, वैसी उनके पूर्व के नाटकों में नहीं। प्रसादजी वेदना

 के कवि ठहरे। उन्होंने इतिवृत्तात्मकता के साथ भावुकता का बड़ा सुखद समन्वय किया। प्रसादजी में द्विजेन्द्रलाल के ऐतिहासिक वृत्त के साथ रवीन्द्रबाबू की भावात्मकता और कुछ सांकेतिकता भी है। प्रसादजी इतिहासवेत्ता, दार्शनिक और कवि थे। उनके नाटकों मे हमें तीनों बातों का परिचय मिलता है। उन्होंने इतिहास के इतिवृत्त में जीवन की दार्शनिक समस्याओं पर बड़ी भावुकता के साथ प्रकाश डाला है। कवि-हृदय से निकले हुए उनके नाटकों के गीत बड़े अन्तर्वेदनापूर्ण हैं।

प्रसादजी ने अतीत को चित्रित करने में बड़ा कमाल किया है। उन के नाटकों में उस समय की रहन-सहन तथा वार्तालाप और शिष्टाचार का पूरा पता लगता है और पढ़ने से मालूम पड़ता है कि हमारे यहाँ भी प्राचीन समय में एक अपने ढङ्ग का शासन-विधान था।

प्रसादजी ने भारतीय सभ्यता की विशेषताओं का उद्घाटन करते हुए स्त्रियों को विशेष महत्त्व दिया है। हमारे यहाँ की रमणियाँ त्याग और तपस्या की देवियाँ हैं। आत्मोत्सर्ग भारतीय संस्कृति का प्राण है। प्रसाद जी के नाटकों की पात्रियाँ आत्मोत्सर्ग की जीवित मूर्तियाँ हैं। कल्याणी और मालविका की सी रमणियाँ कहाँ मिल सकती हैं? उनके मरण से सच्ची करुणा जागरित होती है। हमारे मन में यह भाव अवश्य उठता है कि इनकी बलि व्यर्थ में हुई किन्तु उनके प्रति हमारा आदर और श्रद्धा-भाव बढ़ जाता है। देवसेना की सी तपस्विनी का स्पर्श पापी को भी पवित्र बना सकता है। ऐसी स्त्रियों से भारतभूमि धन्य हुई है।

प्रसादजी ने ऊँच-नीच प्रकृति के सभी तरह के पात्रों का चित्रण किया है। स्कन्दगुप्त भटार्क जैसे अविश्वासी, प्रपंचबुद्धि जैसे क्रूर हमको उनके पात्रों में मिलते हैं किन्तु उन्होंने सब जगह क्षमा का उपयोग किया है। देवसेना जैसी दृढ़व्रता और विजया जैसी चंचल स्वभाव वाली स्त्रियाँ भी उनकी ही सृष्टि है। प्रसादजी ने अपने पात्रों को अचल नहीं बनाया है। उनमें विकास और परिवर्तन दिखाया है। वे व्यक्तित्व भी रखते हैं किन्तु कहीं कहीं वह व्यक्तित्व उनके भाग्यवाद और उनकी दार्शनिकता से दब गया है। चाणक्य जैसे पुरुषार्थी पर भी नियतिवाद की छाप पड़ गई है।

प्रसादजी के नाटकों मे करुणा का प्राधान्य है। यह बौद्धधर्म की .५ है। पशुबलि के वे विरोधी हैं।

अब हम प्रसादजी के नाटकों के विशेष वर्णन के लिए अपने मित्र श्रीसत्येन्द्रजी का एक लेख प्रसादजी की कला* से उद्धृत करते हैं—

'भारतेन्दु' से लेकर प्रसादजी के हिन्दी-गगन में आविर्भूत होने तक कई दशाब्दियाँ बीत जाती हैं। इस अवकाश में नाट्य-रचना की प्रगति इतनी अवहेलनीय नहीं रही। किन्तु प्रसादजी तो इस क्षेत्र के चमचमाते नक्षत्र की भाँति निकले और उन्होंने जो कुछ लिखा, इतना मौलिक था कि प्रेरणा के मूल रूप को छोड़कर और कुछ भी भारतेन्दु-युग का अवशेष उसमें नहीं रह गया। प्रेरणा का वह मूल रूप भी सामयिक मनोवृत्ति का परिणाम है। भारतेन्दु काल से ही भारत मे अपनेपन की सोई हुई चेतना उद्बुद्ध होने लगी थी। वह अपनी संपत्ति की परीक्षा करने और उसका हिसाब-किताब देखने मे संलग्न हुआ। मुसलमानी शासन के क्षोभ ने उसकी वीरता की भावना का तिरस्कार किया था। किसी कारण से क्यों न हो, इतने बड़े देश का कुछ आक्रमणकारियों के सामने घुटने टेक देना इस बात का प्रमाण था कि भारतीयों मे वीरता का अभाव हो गया था। उनके दिग्विजयी इतिहास को सन्देह की दृष्टि से देखा जाने लगा था। सब से पहले उसी ओर दृष्टि जाना स्वाभाविक था। वीरता जागरित करना चैतन्य का सब से पहला लक्ष्य था। उस काल के नाटक भारतीय वीरों के चरित्रों की रक्षा करने और उनके वीर-वैभव को बतलाने के लिए लिखे गये। इन नाटकों में पक्ष को प्रकट करने की इतनी प्रबलता मिली कि स्वाभाविक चित्रण कुछ कुंठित सा हो गया।

प्रसादजी में भारतीय गौरव प्रकट करने की प्रेरणा तो उतनी ही तीव्र है, जितनी भारतेन्दु-काल मे वरन् उससे भी कुछ अधिक तीव्र हो उठी है किन्तु दृष्टि अब वीरतामात्र प्रदर्शित करना नहीं। आगे जैसे समय बढ़ता गया, भारत में एक और प्रकार की मनोवृत्ति प्रबल होने लगी। वीरता के नाम से तलवार और रक्तपात का युग उतना आकर्षक न रह गया था। अँगरेज़ी शासन के विस्तार ने नागरिकों में तलवार और रक्त का भय व्यक्ति के उतने निकट नहीं रहने दिया था, जितना मध्यकाल में था। युद्ध के साधनों मे राजपूती कौशल एकदम त्याज्य हो चुका था। पहले जहाँ तलवार साहस का चिह्न थी, अब बन्दूक और सङ्गीन—बम,

* 'साहित्यरत्न भण्डार' आगरा से प्रकाशित।

 तोप, और गैसें—काम मे आने लगी थीं और इसमे नग्न पिशाच देखकर स्वभाव का दार्शनिक भारतीय कभी उसे रुचिकर अथवा प्रशंसनीय नहीं समझ सकता था। फिर वह वीरता की ओर यदि बढ सकता था तो उसमें कुछ दार्शनिक मधुरता होने के कारण ही बढ सकता था। अब उसमें उसके लिए आवेग नहीं था। जैसा पहले कहा था, एक और प्रकार की मनोवृत्ति प्रबल होने लगी थी—वह थी सभ्यता की ललकार। अँगरेजी पढ़े-लिखे लोग अँगरेज़ो की व्यवहारशीलता के बाह्याडम्बर पर मुग्ध होकर, उनकी भाव-प्रणाली से प्रभावित होकर भारतीय सभ्यता और उसके आदर्शों को हेय समझने लगे थे। यह भीषण आत्मघात की तैयारी थी। यह वह युग था, जिसमे अँगरेजी पढ चुकने वाला व्यक्ति अपने को अधिकारियों के वर्ग का समझकर अपनी उस कठोर सत्ता का पृथक अस्तित्व सिद्ध करने के लिए 'तुम' बोल सकते हुए भी 'टुम' कहकर अपनी ही मातृभाषा का अपमान करता दीखता था। ऐसे अवसर पर महाराणा प्रताप की वीरता का वर्णन या कृष्णार्जुनयुद्ध अथवा राजपूतों के साहस की कहानियाँ कोई अर्थ नहीं रख सकती थीं। इस काल में भारतीय गौरव ने ठीक सामने खड़े होकर प्रश्न किया था—'तुम्हारी सभ्यता क्या है ?'

इस काल के कुछ एक ऐतिहासिक इस सीधे और धृष्ट उत्तर को सुनकर मर्मपीडित हो, भारतीय कंकाल की कड़ियाँ जोडने में लगे थे। प्रसादजी केवल कड़ियाँ जोडना नहीं चाहते थे। वे तो उनमें मन्त्र से प्राण फूँकना चाहते थे, जो कभी ऐसे लिख चुका हो—

'जगे हम लगे जगाने विश्व लोक में फैला फिर आलोका।'

उसे तो अपने दावे की रक्षा करने के लिए खड़ा होना पडेगा। अब गौरव के प्रकाशन की बात नहीं, अब गौरव की मूल तीलियों को चमचमाने, उनके ठीक अर्थ को स्पष्ट करने की आवश्यकता थी और उस की तीलियाँ क्या महमूद गजनवी के बाद के भारत में रक्खी थीं। महाराणा प्रताप और शिवाजी को स्पष्ट करने से वह कहाँ हाथ लगने को थीं। सम्राट् हर्ष की मृत्यु से तो भारत की मृत्यु हो गई थी। भारत का जो कुछ अपना था, वह उससे पूर्व ही था और उसी को खड़ा करने की आवश्यकता थी।

प्रसादजी का सारा आख्यान इन्हीं पूर्व युगों से किया गया है। 'करुणालय' गीति-नाट्य (Melo Drama) एक वैदिक घटना का रूपा-

न्तर हैं। 'राज्यश्री' हर्षकाल की वस्तु है—हर्ष की अभिनन्दनीय
भगिनी ने दुर्भाग्य को देश के सौभाग्य मे परिणत करने का इतना उद्योग किया कि चीनी यात्री (सुएनच्वांग) अपने संस्मरणों में उसे अमर कर गया है।

उनका 'जनमेजय' पुराणों की वस्तु है। 'अजातशत्रु' बौद्ध-काल के आरम्भ की, 'चन्द्रगुप्त' मौर्य-काल के आरम्भ की, 'स्कन्दगुप्त' गुप्त-काल के अन्तिम समय की वस्तु है। नाटकीय द्वन्द्व की सामग्री सन्धि-युगों में ही विशेष उपलब्ध होती है। और ऐसा नाटककार जो घटना और नियति को जीवन मे कम महत्त्व न देता हो, उसे तो अपनी सामग्री बटोरने के लिए हलचल-पूर्ण सन्धि ही विशेष उपयुक्त प्रतीत हो सकती है। प्रसादजी के अन्तर में यद्यपि एक कला की नवनीत मूर्ति झाँक रही है किन्तु वह ऐसे ही है, जैसे खँडहर के ढूहों के पीछे उनका ऐतिहासिक वैभव—व्यंग्यमय और अस्फुट। उनकी तलवार और रक्त-पिपासा के पीछे मानवीय और प्राकृतिक मधुरिमा चलती है। अतः उनके नाटकों के आख्यानों मे संधियों का अनुसन्धान है। 'जनमेजय' पाण्डवों के विगत वैभव और नागों से संघर्ष की संधि मे से चुना गया है। 'राज्यश्री' गुप्तों के पतन और 'वर्द्धनों' के उदय की संधि में से। 'स्कन्दगुप्त' में डगमगाते गुप्त-साम्राज्य के अन्तिम दिनों की जर्जरित उद्दीप्त झाँकी है। 'चन्द्रगुप्त' में नन्द और मौर्य की संधि का विलास है।

किन्तु इन सब मे कवि का एक महत् उद्देश्य इतिहासकार का सा छिपा हुआ है। वह मानों भारतीय सभ्यता के तंतुओं को बटोरकर रखना चाहता है। नहीं, वह इतिहासकार की भाँति सभ्यता के विलास का एक क्रम भी उपस्थित कर रहा है। करुणालय वैदिक वरुण को करुणा का रूप उपस्थित करने को प्रस्तुत हुआ है।

यह जो रोहित को बलि देते तो नहीं
वह बलि लेता, किन्तु मना करता इन्हें।
क्योंकि अधम है क्रूर आसुरी यह क्रिया
यह न आर्य पथ है, दुस्तर अपराध है
वह प्रकाशमय देव, न देता दुःख है।

तब 'राज्यश्री' में चीनी सुएनच्वांग भारत से शिक्षा लेता है—

हर्ष०—(सब मणिरत्न दान करता हुआ अपना सर्वस्व उतार देता है। राज्यश्री से) दो बहिन ! एक वस्त्र। (राज्यश्री देती है)

 हर्ष०—क्यों, मेरी इसी विभूति और प्रतिभूति और प्रतिपत्ति के लिए हत्या की जा रही थी न ? मैं आज सब से अलग हो रहा हूँ। यदि कोई शत्रु मेरा प्राणदान चाहे, तो वह भी दे सकता हूँ।

जय ! महाराजाधिराज हर्षवर्धन की जय !!

सुएन०—यह भारत का देव-दुर्लभ दृश्य देखकर, सम्राट ! मुझे विश्वास हो गया कि यही अमिताभ की प्रसव-भूमि हो सकती है।

फिर नीति की व्याख्या-सा 'ध्रुवस्वामिनी' में मिहिरदेव का कथन है—राजनीति ही मनुष्य के लिए सब कुछ नहीं है। राजनीति के पीछे नीति से भी हाथ न धो बैठो, जिसका विश्वमानव के साथ व्यापक सम्बन्ध है।

विश्व-मानव से विश्वात्मा का रूप 'जनमेजय' में मिलता है। नागों और आर्यों के संघर्ष से उनके संपर्क की कल्पना—यज्ञों की अवाञ्छनीयता सिद्ध होती है और वेदव्यास कहते हैं—

'किन्तु जानते हो यह मानवता के साथ ही साथ धर्म का भी क्रम विकास है। यज्ञों का कार्य हो चुका। बालक सृष्टि खेल कर चुकी। अब परिवर्तन के लिए यह काण्ड उपस्थित हुआ है। अब सृष्टि को धर्मकार्यों में विडम्बना की आवश्यकता नहीं।...विश्वात्मा का उत्थान हो।'

आगे के नाटकों में कितनी जटिलता आ गई—संघर्ष, द्वन्द्व और उन सब में 'ब्राह्मणत्व' के महत्त्व को यथार्थ प्रकाशित करने का भाव अग्रसर होता प्रतीत होता है।

ऐसी सामग्री और भावोदात्तता से प्रसादजी ने प्रत्येक नाटक में कवि-कर्म का उद्यापन किया है। उनकी सृष्टि मे कोमल कठोर, और कठोर कोमल होते देखे गये हैं। बहुत से केवल नियति के डोरे की कठपुतली बने बढ़े चले जाते हैं। चन्द्रगुप्त तक उन्हें किसी ब्राह्मण के दर्शन न हुए थे। अतएव सभी नाटकों में स्त्रीत्व की प्रधानता थी। स्त्रीमय कला उनके सामने नाचती थी। जीवन और उसका अर्थ यदि कहीं था तो राज्यश्री में, सुरमा में, मल्लिका मे, सेना में, ध्रुवस्वामिनी में। पुरुष तभी प्रबल हुए, जब ब्राह्मण चाणक्य उन्हे मिला, जिसने चन्द्रगुप्त को चन्द्रगुप्त बनाकर खड़ा कर दिया। वहीं प्रसादजी का नाटकत्व भी समाप्त हो गया। स्त्रीत्व का पुरुषत्व मे पर्यवसान !

प्रसादजी के इन सभी नाटकों में एक विशेषता मिलती है, वह है विदग्ध-व्यग्रता'। सभी पात्रों में एक उत्तेजना व्याप्त है, एक हलचल और

व्याकुलता है। ठीक भीड़ से भरे बाजार में उनके पात्र बिना इधर-उधर
देखे हड़बडी में धक्का-मुक्की से अपना मार्ग बनाते चलते-से और उस सब के लिए अपना कारण और अपनी व्याख्या रखते-से चलते हैं। इसी लिए उनमे दार्शनिकता भी है। कवि ने झूठ या सच इसी 'विदग्ध-व्यग्रता' मे अन्तर्द्वन्द्व मानकर संभवतः सन्तोष किया है।

इन ऐतिहासिक नाटकों को छोड़ काल्पनिक नाटकों मे 'कामना' सुप्रसिद्ध है। 'कामना' वस्तुतः रूपक है—अभौतिक और आचरण के भावात्मक तत्त्वों को रूपक दिया गया है। कामना, विवेक, विनोद, लीला, विलास जैसे पात्रों की उसी प्रकार अवतारणा की गई है, जिस प्रकार धर्मयुग में 'प्रबोधचन्द्रोदय' मे सत्य, बुद्धि, मोह आदि की। इसके विषय का केन्द्र यही है कि 'विलास' एक अबोध वातावरण में रहने वाले व्यक्तियों में जाकर महत्त्वाकांक्षिणी 'कामना' का साथ कर अनेकों नई धारणाओं की सृष्टि करता है—शराब और सोना बनाता है, रानी और न्याय के आसनों की प्रतिष्ठा करता है, सभ्यता की बातों का धीरे-धीरे प्रवेश करता है, और वैसे ही धीरे धीरे मानवता का ह्रास और पतन का आतंक बढ़ता जाता है। आधुनिक सभ्यता, जिसमें 'पद' और 'सोना' पूज्य हैं, यही मानव जीवन को एकदम कलुषित करने वाली है। (कामना के साथ विलास का योग अनिष्टकारी सिद्ध होता है)

इस प्रकार प्रसादजी के नाटकों मे एक अध्ययनाक्रान्त, संस्कृत-मना, परिष्कृत सोद्देश्य प्रणाली दृष्टिगोचर होती है। कुल, जाति, मानव-भाव और विश्वात्मा की व्याख्या वहाँ है, क्षमा के अभूतपूर्व उदाहरण उपस्थित हैं, त्याग की दिव्य आदर्शशील कल्पना उसमे प्रकाशित है। राज्य और राजकीय वैभव के चित्र तो हैं, पर सभी वैराग्य उत्पन्न करने वाले।

इस प्रकार प्रसादजी के आख्यानों और प्रणालियों में उनका अपना व्यक्तित्व है। इसी प्रकार भाषा का दृष्टिकोण भी है। सभी पात्र एक सी भाषा बोलते हैं—ग्रीक, चीन, शक, हूण, उत्तरी, पश्चिमी, दक्षिणी। सब उनके रंगमंच पर आकर एकभाषाभाषी हो जाते हैं।'

नवीनतम प्रवृत्तियाँ

साहित्य की गति सरिता की भाँति वक्र है। उसका विकास सरल रेखा मे नहीं होता। सरल रेखा तो गणितज्ञों के मस्तिष्क की ही वस्तु है।

 साहित्य में भी जीवन की सी पेचीदगी है। उसमें एकरसता है परन्तु वैविध्य के साथ। साहित्य में अनेकों धाराएँ और उपधाराएँ चलती हैं। उनमें एक आगे बढ़ती है तो दूसरी पीछे जाती है और वह फिर वेग पकड़ कर आगे बढ़ती है। किन्तु इस लौट-फेर, उमडने-घुमड़ने में भी एक अग्रगामिनी गति रहती है। हम हिन्दी-नाटकों की उपधाराओं की ओर ध्यान न देकर थोडी देर के लिए आगे बढने वाली धारा का ही अध्ययन करेंगे। ऐसा करने से हम राह न भूलेंगे। एक मार्ग की ओर ध्यान देने का यह अभिप्राय नहीं है कि दूसरे मार्गों का अस्तित्व अस्वीकार किया जाता है। पीछे जाने वाली धाराओं में भी नवीनता की छाप है। आज-कल के लोग कुरता पहनते हैं किन्तु उसकी काट में एक नयापन है।

प्रसादजी तक आते-आते नाटकीय विकास की एक मंजिल पूरी हो जाती है। हम एक नये युग में प्रवेश करते हैं। उनकी कृतियों में हम मानव-जीवन के संघर्ष के, जो आधुनिक नाटकों का मूलाधार है, दर्शन पाते हैं (जैसे चन्द्रगुप्त में कल्याणी के हृदय मे पितृ-भक्ति और चन्द्रगुप्त के प्रति प्रेम का) किन्तु उस संघर्ष का क्षेत्र दिव्याभाविभूषित अतीत है। अतीत को लेकर हम मानव-जीवन की शाश्वत समस्याओं का उद्घाटन कर सकते हैं किन्तु समय समय पर उठने वाली लहरें अछूती रह जाती हैं। यद्यपि वे क्षणिक हैं तथापि उनका महत्त्व है। क्षणिक में भी तो शाश्वत की ही झलक रहती है। वह झलक हमारे निकट होने के कारण अधिक आलोक-पूर्ण होती है।

अतीत की झलक प्रसाद जैसे कुशल कलाकार के हाथ में भी कुछ फीकी ही रहती है। प्राचीन को सामने चलते-फिरते देखने के लिए पाठकों में भी कल्पना का प्राचुर्य चाहिए। इसलिए आधुनिक नाटककार अतीत के स्वर्ण के मोह में न पड़कर वर्तमान के लोहे को अधिक मूल्यवान् समझने लगा है क्योंकि स्वर्ण मूल्यवान् होता हुआ भी लोहे के बराबर उपयोगी नहीं है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि सभी नाटककार अतीत को तिलाञ्जलि दे चुके हैं। भारतवर्ष में अतीत का सदा मान रहेगा। यहाँ तो जब मोटर के साथ छकड़ा गाड़ी भी चलती है, तब अतीत कैसे भुलाया जा सकता है ? लेकिन अब छकड़ा-गाड़ी में भी रबड़ की हवा भरी हालों के पहिये लग गये हैं। यद्यपि अतीत में भी नवीन युग की

 ँ अवतरित की जाती हैं तथापि बिलकुल आधुनिक नाटककार

अब पीछे की ओर रुख न करके वर्तमान और कुछ-कुछ भविष्य
की ओर देखते हैं।

जहाँ हम प्रसादजी के नाटकों मे शाश्वत समस्याओं के अतीत के क्षेत्र मे दर्शन करते हैं, वहाँ नवीन नाटकों में शाश्वत के वर्तमान स्वरूप को आधुनिक समाज के स्वाभाविक वातावरण मे देखते हैं। हमको अपनी कल्पना के चश्मे में अधिक पावर (शक्ति) देने की ज़रूरत नहीं पड़ती। हमारा अतीत चाहे आकर्षक हो किन्तु हम वर्तमान से भागकर उसकी शरण नहीं लेना चाहते। पहले तो वर्तमान नितान्त निराशामय नहीं और यदि हो भी तो उससे भागना कायरता है।

हम चाहे समस्याओं की गुत्थी सुलझा न सके किन्तु उनके अध्ययन से हम जीवन के सङ्घर्ष के लिए एक प्रकार से सुसज्जित हो जाते हैं। इसलिए नवीन धारा मे ये समस्याएँ रूपकों में व्यञ्जित न होकर प्रस्तुत रूप में ही आती हैं। सङ्घर्ष की रूपरेखा स्पष्ट हो जाती है। भावुकता संकुचित होकर विचार को स्थान दे देती है। बुद्धिवाद को मर्यादित कर अपने अंकुशों में रखने लगता है। सब चीज़ों का मूल्य उपयोगिता की कसौटी पर आँका जाता है। सामाजिक रूढ़ियों के बंधन कुछ शिथिल पड़ जाते हैं। पाप-पुण्य का परिमाण व्यक्ति के सुभीते पर निर्भर किया जाता है। इस प्रकार वर्तमान युग की स्वातंत्र्य-भावना की छाप हमारे नाटकों पर भी आती जाती है। नाटकों का विषय भी अब आभिजात्य-वर्ण न रहकर अपने निकटवर्ती मध्यवर्ग के (और दलितवर्ग के भी) स्त्री-पुरुष हैं। उन की समस्याएँ हमारे सामने जीवित रूप में आती हैं। ये समस्याएँ भिन्न-भिन्न नाटककारों में भिन्न-भिन्न धारणा लेकर आती हैं। संघर्ष भी विष्णु भगवान् की भाँति अनेक रूपों में व्यक्त होता है। इस नई धारा पर पाश्चात्त्य देशों के इब्सनिज्म का कुछ प्रभाव लक्षित होता है।

वर्तमान समाज की दौड़-धूप और कार्यव्यग्रता का भी प्रभाव हमारे नाटकों पर पड रहा है। समय चाहे अनन्त हो किन्तु हम सांत हैं। वर्तमान संस्कृति भी कुछ संकोच-प्रधान है। सभी चीज़ों मे काट-छाँट है। अब रामायण महाभारत लिखने का समय नहीं रहा। अब मुक्तक का प्रचार है। उपन्यास के स्थान मे कहानी प्रवेश करती जाती है। इस युग के नाटक द्रौपदी के चीर की भाँति लम्बे न होकर वामनावतार धारण कर अपने तीन पगों (आजकल तीन ही अंक रखने की प्रवृत्ति होती जाती है)

 में आकाश पाताल को नाप लेते हैं। नाटक को सिनेमा से भी प्रतिद्वन्द्विता करनी पड़ती है। सिनेमा में एक ही इन्टरवेल होता है और समय थोड़ा लगता है, इसलिए आधुनिक नाटक अधिक संक्षिप्तता और वास्तविकता को लेकर चलता है। रंगमंच के संकेत भी पूरे ब्योरेवार होते हैं। उनमें उपन्यासों के वातावरण-वर्णन का सा ढंग आ गया है। पात्रों का भी थोड़ा-बहुत शब्द-चित्र सा खींच दिया जाता है। लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविंददास, उपेन्द्रनाथ अश्क प्रभृति के नाटकों में ये सब बातें न्यूनाधिक रूप में देखने को मिल जाती हैं।

हिन्दी के एकांकी नाटक

एकांकी नाटकों में ये प्रवृत्तियाँ और भी स्पष्ट हो जाती हैं। यद्यपि एकांकी नाटक यहाँ पर विदेशी हवा के साथ आये हैं तथापि इस तरह के नाटक प्राचीन रूपकों में भी मिलते हैं। यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना अनुपयुक्त न होगा कि कुछ लोग एकांकी नाटकों की सफलता में विश्वास नहीं करते हैं। उनका कथन है कि न उनमें चरित्र-चित्रण हो सकता है और न उनमें कोई टेकनीक है। श्रीचन्द्रगुप्तजी विद्यालङ्कार यद्यपि स्वयं अच्छे एकांकी नाटक लिख सकते हैं तथापि वे इसी विरोधी दल के हैं और एकांकी नाटक को कथोपकथन मात्र मानते हैं। अश्कजी एकांकी नाटकों के पक्ष में हैं।*

एकांकी में चरित्र-चित्रण ही नहीं वरन् चरित्र के विकास और परिवर्तन के लिए भी गुञ्जाइश रहती है। एकांकी का लिखना इतना सहज नहीं है, जितना कि समझा जाता है। इस सम्बन्ध में हम श्रीरामकुमार वर्मा के एकांकी नाटकों के संग्रह (पृथ्वीराज की आँखें) की भूमिका से एक उद्धरण देकर एकांकी नाटकों की रचना के आदर्श पर थोड़ा प्रकाश डाल देना चाहते हैं—

"एकांकी नाटकों में अन्य प्रकार के नाटकों से विशेषता होती है। उसमें एक ही घटना नाटकीय कौशल से कौतूहल का संचय करते हुए चरम सीमा तक पहुँचती है। उसमें कोई अप्रधान प्रसंग नहीं रहता। एक-एक वाक्य और एक-एक शब्द प्राण की तरह आवश्यक रहते हैं। पात्र चार या पाँच ही होते हैं, जिनका नाटक की घटना से पूर्णतया सम्बन्ध रहता है। यहाँ केवल मनोरंजन के लिए अनावश्यक पात्र की

---

* फाल्गुन १९९६ की 'वीणा' में इस विवाद का सविस्तर विवेचन है।

गुंजाइश नहीं। प्रत्येक व्यक्ति की रूपरेखा पत्थर पर खिंची हुई [हिं. ८१ रेखा की भाँति स्पष्ट और गहरी होती है। विस्तार के अभाव मे प्रत्येक घटना कली की भाँति खिलकर पुष्प की भाँति विकसित हो उठती है। उसमे लता के समान फैलने की उच्छृङ्खलता नहीं। घटना के प्रत्येक भाग का सम्बन्ध मनुष्य-शरीर के हाथ-पैरों के समान है, जिसमे अनुपात विशेष से रचना होकर सौन्दर्य की सृष्टि होती है। कथावस्तु भी स्पष्ट और कौतूहल से युक्त रहती है, और उसमे वर्णनात्मक की अपेक्षा अभिनयात्मक तत्त्व की प्रधानता रहती है। इस प्रकार एकांकी नाटक की रचना साधारण नाटक की रचना से कठिन है। उसमे विस्तार के लिए अवकाश ही नहीं। अतएव स्वाभाविकता के साथ नाटकीय कथावस्तु का प्रारम्भ, विकास, चरम सीमा और अंत विना किसी शैथिल्य के हो जाना चाहिए।"

एकांकी नाटककारों में रामकुमार वर्मा, भुवनेश्वरप्रसाद, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' प्रभृति का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आजकल रेडियो के लिए भी एकांकी नाटक लिखे जाते हैं।

आधुनिक नाटककारों में हमको सभी प्रवृत्तियों के नाटककार मिलते हैं। कुछ तो श्रीसुमित्रानन्द पंत की भाँति कल्पना और कवित्व को प्राधान्य देते हैं। उन्होंने अपनी 'ज्योत्स्ना' में चन्द्र, ज्योत्स्ना, किरण, पवन आदि प्राकृतिक दृश्यों का ही मानवीकरण कर उनके द्वारा मानवी समस्याओं पर प्रकाश डाला है (परिशिष्ट में 'ज्योत्स्ना' का नमूना दिया गया है)। कुछ लोग पौराणिक नाटक लिखकर नाटकीय साहित्य की शोभा बढ़ा रहे हैं, कोई इतिहास की ओर झुके हुए हैं। ये लोग या तो प्राचीन गौरव का गान कर निराशा को दूर करना चाहते हैं या अतीत में वर्तमान की समस्याओं को अवतरित करते हैं।

भारतेन्दुजी तथा प्रसादजी का वर्णन हम दे चुके हैं। साधारण प्रवृत्तियाँ भी बतला दी हैं। अब हम कुछ प्रमुख नाटककारों का परिचय देकर इस प्रसङ्ग को समाप्त करेंगे।

पंडित माखनलाल चतुर्वेदी—आप बड़े भावुक कवि और साहित्य-सेवी हैं। साहित्य के और अङ्गों के साथ आपने नाटक के अङ्ग की पूर्ति भी की है। आपके 'कृष्णार्जुन युद्ध' ने पर्याप्त ख्याति पाई है। नाटकीय विकास मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और श्रीजयशङ्करप्रसादजी के बीच मे आप एक प्रकार की शृङ्खला हैं। आपके पात्रों मे हरिश्चन्द्र के पात्रों की तरह आदर्श तो है किन्तु वे इतने ऊँचे नहीं हैं कि उनमे अन्तर्द्वन्द्व न उठे।

 यह नवीनता की ओर पदार्पण करना है। इसलिए आपके पात्रों का चरित्र बहुत ही स्वाभाविक बन पड़ा है। कहीं कहीं हास्य का भी अच्छा पुट है।

मिश्रबन्धु—आप लोगों ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास लिखने में एक प्रकार से नेतृत्व किया है। आपने नाट्य-साहित्य की श्रीवृद्धि की है। आपके 'नेत्रोन्मीलन' नामक नाटक मे अदालती कार्यवाही का अच्छा दिग्दर्शन कराया गया है। पूर्वभारत और उत्तरभारत द्वारा आपने महाभारत की कथा की अच्छी जानकारी कराई है। 'शिवाजी' आपका ऐतिहासिक नाटक है। आप लोगों ने कथावस्तु की पूर्णता की ओर अधिक ध्यान दिया है। पूर्वभारत में कुछ पात्रों का चरित्र-चित्रण भी सुन्दर हुआ है।

पं० बद्रीनाथ भट्ट—आप बड़े हास्य-प्रेमी और विनोदी स्वभाव के थे। आपने चुंगी की उम्मीदवारी, कुरुवन दहन, बेन चरित्र, तुलसीदास, चंद्रगुप्त, दुर्गावती, मिस अमरीकन आदि कई नाटक लिखे हैं। आपकी 'चुंगी की उम्मीदवारी' नाम का नाटक कई बार सफलतापूर्वक खेला भी गया है। इस नाटक में मनोरञ्जन की मात्रा काफी है। 'चन्द्रगुप्त' और 'दुर्गावती' आपके ऐतिहासिक नाटक हैं। इन नाटकों के पात्रों मे किसी मात्रा में चरित्र का विकास दिखाई देता है। 'मिस अमरीकन' एक प्रहसन है। इसमें सेठों और अमीरों की हँसी उड़ाई गई है। कहीं-कहीं इसका कथानक मर्यादा को उल्लंघन करता हुआ दिखाई पड़ता है। इसमें हास्य-जनक परिस्थिति उपस्थित करने का प्रयास सा किया गया है। तो भी भट्टजी ने हिन्दी नाटक-साहित्य को विकासोन्मुख बनाने में बहुत योग दिया है।

बाबू मैथिलीशरण गुप्त—आपने कविता के क्षेत्र में स्पृहणीय ख्याति पाई ही है किन्तु नाटक के क्षेत्र को भी अछूता नहीं छोड़ा है। आपका 'चंद्रहास' बहुत अच्छा ऐतिहासिक नाटक है। इसमें कविता और चमत्कार-प्रदर्शन की ओर अधिक प्रवृत्ति है। इसके नायक को विष या कत्ती द्वारा मृत्यु के स्थान में उसकी अभीप्सिता प्रेयसी विषया मिल जाती है। 'अनघ' नाम के गीत-नाट्य मे वर्तमान राजनीति का अवतरण किया गया है। उसमे महात्मा गांधी की छाया दिखाई पडती है। आपकी 'यशोधरा' में प्रबन्धकाव्य के साथ नाटकत्व भी अधिक है।

श्रीरामनरेश त्रिपाठी—आपने ग्राम-गीतों के संग्रह के साथ नाटक भी लिखे हैं। आपनें पहले जयन्त और चन्द्रालोक लिखे थे। चन्द्रालोक मे कल्पना का पुट कुछ अधिक है। हाल में आपने 'वफाती चाचा' नाम का नाटक लिखा है। उसमे हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की समस्या है।

पंडित गोविन्दवल्लभ पंत—आप बड़े सफल नाटककार हैं। आपके 'वरमाला' और 'राजमुकुट' नाम के नाटकों ने विशेष प्रसिद्धि पाई है। हाल मे 'अंगूर की बेटी' नाम का भी एक नाटक निकला है, जिसमें शराब की बुराई दिखलाई गई है। 'वरमाला' का आख्यान पौराणिक है। इसमें मूक अभिनय भी दिखाया गया है और साथ साथ रंगमंच की कला का कुछ चमत्कार दिखाने का भी प्रयत्न किया गया है। इस नाटक मे यह विशेषता है कि पहले नायिका (वैशाली) नायक से उदासीन रहती है। फिर नायक नायिका से उदासीन रहता है। अन्त में दोनों एक दूसरे के ऊपर मुग्ध होते हैं और नायिका नायक को सूखी हुई वरमाला पहनाती है। 'राजमुकुट' का इतिवृत्त ऐतिहासिक है। इसमे पन्ना धाय की आत्म-त्याग और करुणा-भरी कहानी है।

बेचन शर्मा उग्र—आपके 'माहात्मा ईसा' ने बहुत प्रसिद्धि पाई है। महात्मा ईसा पर नाटक लिखकर आपने अपनी धार्मिक उदारता का परिचय दिया है। धार्मिक होने के कारण इसमे दैवी घटनाओं का भी समावेश है। इसमे सभी श्रेणी के पात्र हैं और उनका चरित्र-चित्रण भी अच्छा हुआ है। कहीं-कहीं अस्वाभाविकता आ गई है, लेकिन अधिक नहीं।

आपने 'चार बेचारे' नाम का एक प्रहसनों का संग्रह भी लिखा है। इसमें सम्पादक, अध्यापक, सुधारक और प्रचारकों की हँसी उड़ाई गई है। ये लोग अपने को ससार का वकील और ठेकेदार समझते हैं।

मुंशी प्रेमचन्द्र जी—आपने भी कई नाटक लिखे हैं। उनमें न्याय, हड़ताल, चाँदी की डिबिया, जस्टिस, स्ट्राईक और सिलवर बॉक्स नाम के गाल्सवर्दी के नाटकों का अनुवाद है। ये अनुवाद हिन्दुस्तानी एकेडेमी के लिए हुए हैं। 'कर्बला' और 'संग्राम' आपके मौलिक नाटक हैं। 'कर्बला' का कथानक हज़रत हुसेन की मृत्यु से सम्बन्ध रखता है। 'संग्राम' सामाजिक उपन्यास है। दोनों नाटकों मे उपन्यास की-सी छाया आ गई है। चरित्र-चित्रण तो अच्छा हुआ है किन्तु आकार बहुत बढ़ गया है।

 लक्ष्मीनारायण मिश्र—समस्यात्मक नाटक लिखने में आपका नाम अग्र रूप से लिया जाता है। आपने 'अशोक' नाम का एक ऐतिहासिक नाटक लिखा है और आधुनिक प्रवृत्ति के अनुकूल आपने संन्यासी, राक्षस का मन्दिर, मुक्ति का रहस्य, सिन्दूर की होली, राजयोग नाम के पाँच सामाजिक नाटक लिखे हैं।

आपके 'संन्यासी' में सहशिक्षा की समस्या उपस्थित की गई है। उसी के साथ नारी-समस्या पर भी विचार किया गया है। सहशिक्षा की बुराई दिखाने में मिश्रजी कुछ जरूरत से ज्यादा आगे बढ़ गये हैं। विरले ही अध्यापक इतने नीच होते हैं, जितना कि उन्होंने रमाशङ्कर को दिखलाया है।

इनका प्रेम भी बड़ा व्यावहारिक है। वह एक प्रकार से संसार चलाने का समझौता है। आपके पात्रों की भावुकता बुद्धिवाद से दब जाती है। हमको विश्वकान्त के साथ सहानुभूति उत्पन्न होती है।

मिश्रजी के 'राक्षस का मंदिर' 'मुक्ति का रहस्य' और 'राजयोग' तीनों में संन्यासी की छाप सी मालूम पड़ती है। तीनों में प्रेम की असफलता से वैराग्य की भावना का उदय होता है। राक्षस के मंदिर का मनोहर और मुक्ति के रहस्य का डाक्टर दोनों ही धूर्त हैं और दोनों को ही प्रेम में सफलता मिलती है।

इन नाटकों में वास्तविकता चाहे हो, प्रेम का ऊँचा आदर्श नहीं मिलता है। 'राजयोग' का नरेन्द्र अवश्य पीछे से उदार हो जाता है। अन्य नाटकों में नैराश्य अधिक है। मिश्रजी वासनामय प्रेम का खोखलापन तो दिखा सके हैं किन्तु उसको ऊँचा नहीं उठा सके हैं। 'सिन्दूर की होली' के प्रेम का आदर्श बहुत ऊँचा है।

सेठ गोविन्ददास—आपने राजनीतिक क्षेत्र में काम करते हुए भी साहित्य-सेवा की है। साहित्य-सेवा के लिए नाटक को अपना विषय चुना है। आपने बहुत से नाटक लिखे हैं। उनमें पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक सभी प्रकार के हैं। आपके हाल के प्रकाशित नाटकों में चार हैं—कर्तव्य, हर्ष, प्रकाश और स्पर्धा।

'कर्तव्य' में आपने भारतीय परम्परा के अनुसार राम और कृष्ण के पावन चरित्रों को लिया है। कर्तव्य के दो रूप हो सकते हैं। एक, मर्यादा की शाब्दिक रेखा के भीतर रहकर उसका पालन करना। दूसरा, उस रेखा को उल्लंघन कर स्वतन्त्रता के साथ उनकी आत्मा का पालन

करना । मर्यादापुरुषोत्तम राम पहले रूप के प्रतिनिधि हैं और लीलावतार भगवान् कृष्ण दूसरे रूप के । मर्यादा की प्राणहीन रेखा की रक्षा करने में श्रीरामचन्द्रजी सती सीता के प्रति अन्याय करते हैं । नाटक में नैतिक समस्या तो बड़े महत्त्व की है किन्तु नाटकीय दृष्टि से ऐसे दो भिन्न युगों की आत्माओं की एक स्थान मे तुलना करना कुछ अस्वाभाविक हो जाता है ।

'हर्ष' ऐतिहासिक नाटक है । इसमें हर्ष को कर्तव्यपरायण और निःस्वार्थ सेवक के रूप में दिखलाया है । उसने शक्ति का प्रयोग किया किन्तु साम्राज्य में एकत्व लाने के उद्देश्य से । वह पीछे से हृदय-परिवर्तन के शान्तिमय उपकरणों का उपयोग करता है । वह उदार है, उसकी साम्राज्य-लिप्सा भी निःस्वार्थ है । फिर भी क्या दूसरों को अपने अधीन बनाना क्षम्य हो सकता है । यह बात खटकती रह जाती है और ऐसे सज्जन की असफलता और मंडप में आग लग जाने से हमको दुःख होता है ।

'प्रकाश' सामाजिक और राजनीतिक नाटक है । इसमें वर्तमान समाज का अच्छा चित्रण हुआ है । बड़े आदमियों का दम्भ तथा महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए नीति और न्याय की अवहेलना के अच्छे दृश्य दिखाये गये हैं । प्रकाश और मनोरमा में आजकल के देशसेवक, अन्याय के विरुद्ध आवाज़ उठाने वाले युवक और युवतियों के पवित्र चरित्रों के दर्शन होते हैं । इसमें वात्सल्य भाव भी आया है किन्तु उसका पूरा परिपाक नहीं होने पाया है । प्रकाश अजयसिंह का पुत्र है । अजयसिंह प्रकाश के सम्बन्ध को न जानते हुए उसके खिलाफ अर्जी देते हैं और जब जान लेते हैं, तब अर्जी को वापस लेना उनके हाथ से बाहर हो जाता है । प्रकाश के इतने दिन तक न पहचाने जाने मे बीते युग की रहस्यात्मकता की झलक मिलती है ।

इसके उपक्रम और उपसंहार मे चीनी बरतन वाले की दुकान मे साँड के घुस जाने की बात को लिखकर नाटककारों ने एक प्रकार के प्रतीकवाद (Symbolism) से काम लिया है ।

'स्पर्धा' में स्त्री और पुरुषों की परस्पर स्पर्धा और प्रतिद्वन्द्विता की समस्या है । इसमें यह दिखलाया गया है कि स्त्रियाँ जब पुरुषों के क्षेत्र में उनसे प्रतिद्वन्द्विता करने आती हैं, तब वे स्त्रियाँ नहीं रहती हैं; पुरुष बन जाती हैं और फिर उनको पुरुषों से कोमल भावना की आशा न करनी चाहिए । सेठजी के नाटकों में आधुनिकता पर्याप्त मात्रा में है ।

 वे अपने निजी विचार भी रखते हैं। उन पर नवीन और प्राचीन प्रभाव दोनों ही हैं। 'स्पर्धा' को छोड़ कर उनके नाटक बड़े अवश्य हैं।

उपेन्द्रनाथ अश्क—आपने दो नाटक 'जय पराजय' और 'स्वर्ग की झलक' तथा कई एकांकी नाटक लिखे हैं। 'जय पराजय' ऐतिहासिक है और 'स्वर्ग की झलक' सामाजिक है। 'जय पराजय' नया होता हुआ भी पुरानी चाल का है और 'स्वर्ग की झलक' बिलकुल नवीनता लिये हुए है। 'जय पराजय' में राणा लाखा के पुत्र चंड की भीष्म प्रतिज्ञा है। भीष्म ने तो अपने पिता की इच्छापूर्ति के लिए प्रण किया था किन्तु चंड ने तो हँसी में कही हुई बात का पालन करने के लिए ऐसा प्रचण्ड व्रत धारण किया। इस नाटक में एक प्रकार से वृद्ध-विवाह की समस्या भी आ गई है किन्तु अब यह समस्या पुरानी हो गई है। इसमें हंसाबाई को बल और मद-भरी जय को पराजय में परिणत किया गया है और चंड की भौतिक पराजय को नैतिक जय के रूप में दिखाया गया है। यह नाटक कुछ बडा हो गया है। अश्कजी ने स्वयं स्वर्ग की झलक को वर्तमान रंगमंच की आवश्यकताओं के अनुकूल बतलाया है। इसमें दो तरह की स्वर्ग की झलक है—एक तो झूठी और दूसरी सच्ची। जो लोग उच्च शिक्षा प्राप्त स्त्रियों के रूप, रंग और कृत्रिम सामाजिकता से मुग्ध होकर उनमें स्वर्ग की झलक देखना चाहते हैं उनको निराश होना पड़ता है। अश्कजी ने दिखलाया है कि ऐसी स्त्रियाँ वात्सल्य और दाम्पत्य दोनों ही भावनाओं से हीन तथा अपनी फिजूलखर्ची से पति को संकट में डालने वाली होती हैं। इसमें यह समस्या है कि पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ थोडी आय वाले पुरुषों के साथ किस प्रकार पारिवारिक जीवन व्यतीत कर सकती हैं। सब को आई० सी० एस० नहीं मिल सकते। ग्रेजूएट स्त्री से सम्बन्ध निश्चित हो जाने पर इसका नायक रघु कहता है कि—'मैं गृहस्थी चाहता हूँ, तितली नहीं।' खूब भटककर और अनुभव प्राप्तकर वह 'गृहस्थी' की खोज में पड़ता है। ग्रेजूएट और गृहस्थी का योग असम्भव नहीं, तितली और गृहस्थी का चाहे हो। अधिकांश पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ छुई-मुई या तितली न रहकर गृहिणियाँ बन जाती हैं। नाटक को पढकर स्त्री-शिक्षा के विरुद्ध न होना चाहिए।

पं० उदयशंकर भट्ट—पञ्जाब के प्रसिद्ध साहित्यसेवी हैं। आप कवि भी हैं और नाटककार भी हैं। आपने कई नाटक लिखे हैं। उनका इतिवृत्त अधिकतर पौराणिक है। भट्टजी के 'सगरविजय' में सगर का—पिता

के राज्यच्युत करने वाले दुर्दय पर विजय प्राप्त करने का-हाल है।
इसमे वसिष्ठ के उदारतापूर्ण सौजन्य और ब्रह्मतेज का वर्णन है । यद्यपि आजकल अपने ही पुरुषार्थ को अधिक महत्त्व दिया जाता है तथापि जिस समय की कथावस्तु है, उस समय के लिए ब्रह्मतेज का सहारा लेना स्वाभाविक ही था।

'अम्बा' महाभारत की कथा पर अवलम्बित है। इसमें नीति की उपेक्षा करने वाली भीम की शक्ति द्वारा नारी की अवमानना का प्रायश्चित्त बडी सुन्दर रीति से दिखाया गया है और नाटककार ने दो बूँदों के फूलों पर गिरकर काँटे पर गिरने तथा उनके पृथ्वी पर ढुलक जाने की बात लिखकर प्रतीक द्वारा नाटक का काव्यमय संक्षेप उपस्थित किया है। इस नाटक में प्रासङ्गिक रूप से विवाह की समस्या पर भी प्रकाश डाला गया है। इसमे एक विदूषक भी है। उसका हास्य बड़ा सुन्दर है किन्तु यदि अम्बा के सम्बन्ध में उसकी वाणी का प्रवाह रोक दिया जाता तो अच्छा होता। उसने हिन्दू-धर्म से बहिष्कृत लोगों की जो उपमा दी है, वह बड़ी मार्मिक है किन्तु उसमें कालदूषण प्रतीत होता है।

भट्टजी का 'दाहर' खलीफा द्वारा की गई सिंध की विजय से सम्बन्ध रखता है। इसमें वीर-रस की प्रधानता है । 'मत्स्यगंधा' और 'विश्वामित्र' दोनों ही भावप्रधान नाटक हैं, दोनों में ही पश्चात्ताप की भावना प्रबल रूप में दिखाई गई है। मत्स्यगंधा का अनन्त यौवन का वरदान उसके लिए अभिशाप हो जाता है। विश्वामित्र में तपोभ्रष्ट होने का पश्चात्ताप है।

श्रीसुदर्शनजी—आपने भी कई अच्छे नाटक लिखे हैं । उनमें 'अंजना' ने बहुत ख्याति पाई है। आपने 'आनरेरी मैजिस्ट्रेट' नाम का एक प्रहसन भी लिखा है। हाल मे आपका 'भाग्य-चक्र' निकला है। इस में प्रेम और वैराग्य का संघर्ष है।

श्रीचन्द्रगुप्त विद्यालंकार—आपका 'अशोक' नाटक बहुत सफल हुआ है। 'चन्द्रगुप्त' में वैसे तो आधुनिक प्रवृत्ति के अनुकूल गद्य का ही प्राधान्य है किन्तु उसमे कुछ सुन्दर गीत भी हैं, जो भावुकता और भाषा की सरलता के कारण लोक-प्रिय होने की क्षमता रखते हैं। आपने कुछ एकांकी नाटक और 'रेडियो से' भी लिखे हैं।

श्रीहरिकृष्ण प्रेमी—आपने दो ऐतिहासिक नाटक लिखे हैं—

 'शिवसाधना' और 'रक्षाबन्धन'। 'रक्षाबन्धन' में मेवाड़-गौरव का बड़ा सुन्दर गीत है । इसमें रक्षाबन्धन का महत्त्व दिखलाते हुए यह बतलाया गया है कि मुसलमान लोग भी राखी का मान करते थे। आपने 'पाताल-विजय' नाम का भी एक नाटक लिखा है।

श्रीचतुरसेन शास्त्री—आपके अमरराठौर, उत्सर्ग, अजीतसिंह नाम के तीनों नाटक ऐतिहासिक हैं । आपकी भाषा ओजस्विनी और राजपूत-वीरता के अनुकूल है।

श्रीजगन्नाथप्रसाद मिलिंद—आपके 'प्रताप-प्रतिज्ञा' नाम के नाटक ने बड़ी लोक-प्रियता प्राप्त की है। इसमें देशप्रेम और स्वाभिमान के भाव अच्छी तरह से दिखलाये गये हैं। इसमे राणा प्रताप और शक्तिसिंह के उग्र संघर्ष के पश्चात् संकट के समय में शक्तिसिंह में भ्रातृप्रेम की जागृति बड़ी मार्मिक है। ऐतिहासिक घटना और साथ-साथ अप्रामाणिक बातों का आ जाना नाटक के गौरव को कुछ कम करता है।

श्रीसत्येन्द्रजी—इन ऐतिहासिक नाटककारों के साथ-साथ हम श्री सत्येन्द्रजी के नाम की उपेक्षा नहीं कर सकते। उनके 'मुक्तियज्ञ' में बुन्देलखण्ड-केसरी श्रीछत्रसाल द्वारा बुन्देलखण्ड की मुक्ति का वर्णन है। इसमें वीररस का अच्छा परिपाक हुआ है। वह सफलतापूर्वक मथुरा में खेला भी गया है।

कुछ अनुवाद किये हुए नाटक—यद्यपि आजकल मौलिक नाटक ही अच्छे निकल रहे हैं तथापि संस्कृत और दूसरी स्वदेशी और विदेशी भाषाओं के अमर रत्नों को अपनी भाषा में अवतारित करना प्रत्येक हिन्दी-प्रेमी का धर्म है । संस्कृत के नाटकों में कई नाटकों के अनुवाद निकले हैं। श्रीबलदेव शास्त्री द्वारा अनुवाद किया हुआ 'पंचरात्र' और 'प्रतिमा', प्रेमनिधि शास्त्री द्वारा अनुवाद किया हुआ 'अभिषेक' आदि नाटक विशेष-रूप से उल्लेखनीय हैं। श्रीजगदीश शास्त्री की 'वध्यशिला' यद्यपि अनुवाद नहीं है तथापि उसमें नागानन्द की छाप है । भास के 'स्वप्नवासवदत्ता' आदि और भी कई नाटकों के अनुवाद निकले हैं।

श्रीयुत जी० पी० श्रीवास्तव ने फ्रांसीसी नाटककार मोलिएर के नाटकों का अनुवाद तो नहीं किया किन्तु उसको हिन्दुस्तानी रूप दे दिया है। ऐसे शुद्धि-संस्कार में कहाँ तक मूल भावों की रक्षा हो सकी है, यह हीं कहा जा सकता है।

डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप ने अपने 'मोलिएर' नाम की पुस्तक
में मोलिएर की जीवनी और नाट्य-कला के विद्वत्तापूर्ण परिचय के साथ 'बनिया चला नबाब की चाल' नाम के नाटक में मोलिएर के Le Bourgeois Gentel homme का सुन्दर अनुवाद दिया है। आपका अनुवाद सीधे फ्रेञ्च भाषा से हुआ है। श्रीलक्ष्मीनारायण मिश्र ने इब्सन के Dolls house का 'गुडिया के घर' के नाम से अनुवाद किया है।

डाक्टर मंगलदेव शास्त्री ने 'मिना' नाम का नाटक लिखा है, जो इस नाम के जर्मन नाटक का अनुवाद है। श्रीकैलाशनाथ भटनागर ने 'कुणाल' आदि नाटक लिखकर नाटकीय क्षेत्र में अपनी प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया है। आपने जनना की जानकारी के लिए 'नाट्यकथामञ्जरी' में संस्कृत नाटकों का बडा सरल और हृदयग्राही परिचय दिया है।

हिन्दी में नाटक-साहित्य का विस्तार बहुत बढ़ गया है। बहुत से नाटककारों का, जैसे श्रीजनार्दन राय, पृथ्वीनाथ शर्मा प्रभृति, हम उल्लेख भी नहीं कर सके हैं। ऐसे लोगों से हमको बड़ी आशा है।

उपसंहार

हमको इस समय ऐसे नाटककारों की आवश्यकता है, जो पश्चिम का अन्धानुकरण न करके अपना नया मार्ग निकालें, जिससे जातीय संस्कृति की पूरी तौर से रक्षा होते हुए हमारी वर्तमान समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न हो और भविष्य के लिए कुछ संकेत हो। इसके लिए ऐसे कलाकारों की आवश्यकता है, जो भाषा पर पूरा प्रभुत्व रखते हुए नाटक और रंगमंच की कला से पूर्णतया अभिज्ञ हों और साथ ही साथ अपने मस्तिष्क में कुछ मौलिक विचार रखते हों, जिनसे कि जनता को केवल हू-हक करने के लिए ही सामग्री न मिले वरन् उनकी विवेचना शक्ति के लिए भी कुछ मानसिक आहार प्राप्त हो। भाषा के प्रभुत्व का यह अभिप्राय नहीं कि भावावेश में चाहे जो कुछ लिख जायँ वरन् यह कि भाषा भावानुसारिणी हो, उसमे विना तुकबन्दी के उचित गति और प्रवाह हो और सुबोधता के साथ पर्याप्त गौरव भी हो।

अन्य प्रान्तीय नाटक और रंगमंच

नाट्य-साहित्य की दृष्टि से भारत की प्रान्तीय भाषाओं में बंगाली बहुत उन्नत हैं। बङ्गाल मे ही सब से पहले नये ढंग के रंगमंच की स्थापना हुई थी। यद्यपि बङ्गाल की नाट्यकला के विकास में रंगमंच का वहुत कुछ

 हाथ है तथापि वहाँ की नाटकीय परम्परा का संबंध यात्राओं से था, जो उत्तरभारत की रास-लीलाओं और राम-लीलाओं की भाँति थीं। इन यात्राओं में गीतगोविन्दकार जयदेव द्वारा गाई हुई राधाकृष्ण की प्रेम-लीलाओं का भी अभिनय होता था। पीछे से विद्यासुन्दर जैसी लोकप्रिय कथाओं का भी अभिनय होने लगा था।

हिन्दी की भाँति वहाँ भी उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व नाटकों का अभाव सा रहा है। जो रचनाएँ नाटक नामधारिणी थीं, वे प्रायः पद्यमय और धार्मिक थीं। वे न प्राचीन नाटकों से मिलती थीं और न आधुनिक नाटकों से। उनमें भगवान् कृष्ण वा चैतन्य महाप्रभु के चरित्रों का प्राधान्य रहता था। बंगला नाटकों का पूर्व रूप हमको वहाँ के गीतविनयों में मिलता है, जो कि उत्सवों पर खेले जाते थे।

अँगरेज़ी ढंग का रंगमंच सब से पहले कलकत्ते में सन् १७५७ से भी पूर्व कलकत्ता थियेटर के नाम से स्थापित हुआ। उसमें क्रमशः उन्नति होती रही किन्तु अभिनय अँगरेजी ही रहा। सन् १७९५ में हिरेसिम लेबडेफ्ट (Herasım Labdeft) नामक रूसी सज्जन ने एक देशी रंगमंच स्थापित किया। उसने अँगरेजी के दो नाटकों का अनुवाद कराकर उनका अभिनय कराया। उसमें उसको विशेष सफलता मिली।

कलकत्ते के अँगरेज़ी नाट्य-गृह वहाँ के सम्पन्न जमीदारों का ध्यान आकर्षित करने लगे। उसी तरह का रंगमंच बंगला भाषा के लिए स्थापित करने के उद्देश्य से दो लाख रुपया एकत्रित कर श्याम बाजार में श्री-नवीनचन्द्र वसु के मकान पर पहले-पहल 'विद्यासुन्दर' खेला गया। सन् १८५७ के मार्च मास में रामनारायण तर्करत्न का लिखा हुआ 'कुलीन-कुलसर्वस्व' बाबू जयराम बसाक के घर पर खेला गया। इस प्रकार कई निजी मंडलियाँ स्थापित हो गई। उनके कारण वहाँ की नाट्य-कला को बढ़ा प्रोत्साहन मिला। बंगला मे जो दूसरा नाटक खेला गया था, वह रत्नावली का बंगाली अनुवाद था।

माइकेल मधुसूदनदत्त का, जो कि कई यूरोपीय केन्द्रों में शिक्षा-दीक्षा पा चुके थे, ध्यान नाटक-रचना की ओर आकर्षित हुआ। उनका 'एके की बॉले सभ्यता' बहुत लोक-प्रिय हुआ। उनके शर्मिष्ठा, पद्मावती, कुम। ी आदि नाटकों ने अच्छी ख्याति पाई। गिरीशचन्द्र घोष ऐसे उद्योगों से, जिनमें केवल थोड़े से भाग्यवान् लोग ही प्रवेश पा सकते

थे, असन्तुष्ट थे। उन्होंने सार्वजनिक नाट्य-गृह बनाने का उद्योग किया [९१
और वे १८७२ में जातीय नाट्य-गृह (National theatre) स्थापित करने में सफल हुए। उन्होंने बहुत से पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक नाटक लिखे। उनमें हरिश्चन्द्र, बलिदान, बिल्वमंगल, पाण्डव-गौरव, छत्रपति शिवाजी आदि प्रसिद्ध हैं।

उस समय के राजनीतिक नाटकों में 'नीलदर्पण' ने जातीय जागृति में बहुत योग दिया। उसने नील के अँगरेज़ काश्तकारों के अत्याचारपूर्ण व्यवहारों का उद्घाटन कर जनता का उनकी ओर ध्यान आकर्षित किया।

बङ्गाली सामाजिक नाटकों में दहेज-प्रथा के करुणा-जनक दृश्य उपस्थित किये गये हैं या अँगरेज़ी पढ़े बाबू लोगों की हँसी उडाई गई है, जो अपने घरों से भी अँगरेज़ी शिष्टाचार बर्तते हैं (जैसे अमृतलाल बोस के 'बाबू' में)। साथ ही साथ प्राचीनता के उपासक बाह्याडम्बर को ही धर्म का सर्वस्व मानने वालों को भी नहीं छोड़ा गया है।

श्रीद्विजेन्द्रलाल राय ने बङ्गाली नाटकों में युगान्तर उपस्थित कर दिया। उन्होंने ऐतिहासिक नाटक, गीत-नाट्य और प्रहसन सभी तरह के नाटक लिखे हैं किन्तु उनकी ख्याति बहुत कुछ उनके ऐतिहासिक नाटकों पर अवलम्बित है। राय महोदय को संगीत का भी अच्छा ज्ञान था किन्तु उन्होंने अपने नाटकों में आवश्यकता से अधिक संगीत का समावेश नहीं किया है। पं० रूपनारायण पाण्डेय ने हिन्दी में उनके नाटकों के बड़े सफल अनुवाद किये हैं। राय महोदय में स्वदेश-प्रेम की भावना बहुत ज़बरदस्त थी और वे बाह्याडम्बर के विरोधी थे। इन दोनों बातों की छाप उनके नाटकों में मिलती है। यद्यपि उनके नाटकों में इतिवृत्तात्मकता अधिक है तथापि उनमें भावुकता भी पर्याप्त मात्रा में है। राय महोदय प्रायः शेक्सपियर के ही आदर्शों को लेकर चले हैं। उस ज़माने में भारत में शेक्सपियर के नाटकों का विशेष अध्ययन होता था। डाक्टर आर० के० याज्ञिक ने अपनी 'दी इण्डियन थियेटर' (The Indian Theatre) नाम की पुस्तक में दिखलाया है कि राय महोदय 'शाहजहाँ' में शेक्सपियर के किङ्गलियर से बहुत कुछ प्रभावित हैं। विशेषकर उस स्थल में, जहाँ कि वे उन्मादावस्था को पहुँच जाते हैं। समान परिस्थितियों में भावसाम्य हो जाता है क्योंकि पूर्व और पश्चिम, सब दिशाओं में मानवहृदय प्रायः एक सा है। शाहजहाँ के 'हिन्दी अनुवाद की भूमिका' में इस विषय पर विवेचन हुआ है। राय महोदय के नाटकों की सूची नीचे दी जाती है—

 (१) मेवाड़-पतन (२) दुर्गादास (३) राणा प्रतापसिंह (४) चन्द्रगुप्त (५) सिंहल-विजय (६) पर पारे (७) तारा बाई (८) शाहजहाँ (९) नूरजहाँ (१०) बंगनारी (११) पाषाणी (१२) सीता (१३) सोहराब-रुस्तम (१४) विरह ।

प्रहसन

(१) पुनर्जन्म (२) कल्कि-अवतार (३) त्र्यहस्पर्श (४) एक छरे (५) बहुत अच्छा (६) आनन्द-विदाय।

कवि-सम्राट् श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर की सर्वतोमुखी प्रतिभा के फल-स्वरूप बङ्गाली साहित्य को बड़े सुन्दर भाव-प्रधान नाटक मिले हैं। रवि बाबू कवि हैं। उनके कवित्व का प्रभाव उनके नाटकों में भी लक्षित रहता है। उनके नाटकों में एक प्रकार की सांकेतिकता रहती है।

रवि ठाकुर ने वाल्मीकि-प्रतिभा, कालमृगया, माया का खेल, प्रकृति-प्रतिशोध, राजा रानी, विसर्जन, मालिनी, विदाय-अभिशाप, चित्राङ्गदा, लक्ष्मी-परीक्षा आदि अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। रवीन्द्र बाबू के नाटक संगीतप्रधान हैं। उनमें भावुकता के साथ विचार की भी सामग्री अधिक मात्रा में रहती है।

रवीन्द्र बाबू के नाटक साधारण रंगमंच की चीज़ नहीं हैं। उनके नाटकों का अभिनय उनकी ही घरेलू मंडली द्वारा सफलतापूर्वक होता है। उनका रंगमंच अत्यन्त सरल और कलापूर्ण होता है। रंग-विरंगी पोशाकें और 'दिलरुबा' पर बैठे हुए सरस गाने और भाव मन को एक दिव्य लोक की आभा से पूरित कर देते हैं।

इन कलाकारों के अतिरिक्त बङ्गाल में बहुत से नाटककार हुए, जिनका वर्णन हिन्दी वालों को अधिक रुचिकर न होगा।

मराठी भाषा के नाटकों का भी रंगमंच से विशेष सम्बन्ध है। बम्बई में आये हुए कर्नाटकी मंडली के लोगों से प्रभावित होकर साँगली के राजा ने विष्णुपंत भवे को अनेक नाटकों का आयोजन करने के लिए प्रेरित किया। भवे ने एक मंडली बनाई और कई नाटक भी लिखे। यह मंडली व्यवसायिक आधार पर चलने लगी। और इसकी देखा-देखी कई कम्पनियाँ खड़ी हो गईं। पहले संस्कृत से अनुवाद हुए नाटकों का प्राधान्य रहा और फिर शिवाजी, बाजीराव आदि ऐतिहासिक नाटक लिखे गये। राजनीति और वीरताप्रधान प्रान्त में ऐसे नाटकों का बड़ा मान हुआ। पर भी सामाजिक नाटक लिखे गये, जिनमें कि सामाजिक कुरीतियों उद्घाटन किया गया। मराठी के सामाजिक नाटकों में शारदा सब से

पहला नाटक था, जो प्रतिद्वन्द्विता के लिए लिखा गया था।

मराठी नाटकों पर भी वाररेकर आदि नाटककारों द्वारा 'इब्सन' (Ibsen) और 'शॉ' का प्रभाव पड़ा।

मराठी नाटक-कम्पनियों मे संगीत देशी ढंग का ही रहा।

गुजराती नाट्य-कला का उदय एक प्रकार से पारसी कम्पनियों की प्रतिक्रिया से हुआ। इस प्रतिक्रिया के नेता रणछोड़ भाई उदयराम हैं। इन्होंने कई संस्कृत नाटकों का अनुवाद किया। इनका लिखा हुआ 'ललितादुखदर्शन' गुजराती का पहला दुःखान्त नाटक है। गुजराती कम्पनी के स्थापन मे नरोत्तम आदि कई अध्यापकों का हाथ है।

आजकल श्रीयुत के० एम० मुन्शी ने कई अच्छे नाटक लिखे हैं। आपको रंगमंच का भी अच्छा ज्ञान है। आपकी धर्म्मपत्नी श्रीमती लीलावती मुन्शी ने भी कई एकांकी नाटक लिखे हैं। उपन्यासकार आर० वी० देसाई ने अपने 'शंकित हृदय' में उल्लेखनीय सफलता पाई है।

बम्बई के ही प्रभाव से मद्रास में भी पीछे से नाटकीय कम्पनियाँ स्थापित हुईं।

पाँचवाँ अध्याय

कुछ नाटकों का आलोचनात्मक परिचय

शकुन्तला*

'काव्येषु नाटकं रम्यं तत्रापि च शकुन्तला।'

'काव्यों मे नाटक रम्य है और नाटकों मे शकुन्तला'—यह भारतीय लोक समीक्षा का सार है। जर्मनी के महाकवि गेटे† ने भी इस लोक-निर्णय की कवित्वपूर्ण पुष्टि की है। उसका कथन है कि यदि कोई वसन्त-सुमनों तथा उनकी परिणति-स्वरूप फलों को एक ही स्थान में देखना चाहे (अलौकिक अनुभव में फूल फल की आशा से प्रसन्न होकर फूलते हैं किन्तु

---

* इसमें उद्धरण राजा लक्ष्मणसिंह के 'शकुन्तलानाटक' से लिये गये हैं।

† Wouldst thou see spring's blossoms and fruits of its decline
Wouldst thou see by what the souls enraptured feasted fed
Wouldst thou have this earth and heaven in one sole name combine
I name thee oh, Shakuntala ! and all at once is said

 उनके बिना म्लान हुए और बिना आत्मोत्सर्ग के फल की प्राप्ति नहीं होती। शकुन्तला में पुष्प फल में परिणत होकर भी अम्लान रहता है), यदि कोई उस सुधा को देखना चाहे जिसके दर्शनों से आत्मा मुग्ध होती है और जिसके रसास्वादन से उसे तृप्ति मिलती है, यदि कोई स्वर्ग और मर्त्यलोक का मिलन एक ही नाम में देखना चाहे, तो वह नाम शकुन्तला है। उसका नाम लेते ही सब बातें पूर्ण हो जाती हैं।

शकुन्तला यद्यपि शृङ्गार-काव्य है तथापि उसमे भारत को अपना नाम देने वाले चक्रवर्ती सर्वदमन भरत की पुण्य-कथा है। उसके शृङ्गार में एक अलौकिक मर्यादा और दिव्य सात्त्विकता है। इसके शृङ्गार में वैयक्तिक प्रेम के साथ विश्व-प्रेम का सुखद समन्वय है। इसकी रति में विश्व के प्रति मैत्रीभाव गुम्फित हैं। राजा शिकारी की हिंसक वृत्तियों को लेकर तपोवन में आता है किन्तु आश्रम के प्रेम और शान्तिमय वातावरण में उसकी घातक वृत्तियाँ विश्राम ले लेती हैं। जिस तपोवन में ऋषि शान्तिपाठ पढ़ें, उसका वातावरण क्यों न शान्तिमय बन जाय। जिस आश्रम का एक-एक पशु-पक्षी अनिन्द्य सुन्दरी शकुन्तला से सहोदर सम्बन्ध रखता है, वहाँ के अलौकिक सौन्दर्य के प्रभाव में आकर राजा की मनोवृत्तियाँ क्यों न कोमल बन जायँ। जहाँ के आश्रमवासी आश्रम के मृग की रक्षा को राजा के लिए शिष्टाचार से भी ऊँचा समझते हैं और राजा के आते ही कह देते हैं—

नाहिन या मृग मृदुल तन, लगन जोग यह बान।
ज्यों फूलन की राशि में, उचित न धरन कृसान॥

वहाँ के कोमलतापूर्ण वायुमण्डल में घातक वृत्तियाँ कहाँ स्थान पा सकती हैं। राजा तुरन्त तपस्वियों की बात मान लेता है। वह क्षत (हानि) से त्राण करने वाला सच्चे अर्थ में क्षत्रिय* बन जाता है। इसी लिए तो तपस्वियों ने उसका क्षत्रिय करके सम्बोधन किया—'हे क्षत्री, यह हिरन आश्रम का है।' राजा के शिकार से विराम लेते ही तपस्वी लोग उसका उचित आदर-सत्कार करते हैं और चक्रवर्ती पुत्रजन्म का आशीर्वाद दे फलप्राप्ति का संकेत कर देते हैं।

मन्त्री के शिकार की तारीफ करने पर भी राजा कह देता है—

भैंसन देहु करन रँगरेली। सींग पखार कुण्ड बिच केली॥
हरिन-यूथ रूखन तरु आवे। बैठ जुगार करत सुख पावे॥

*'क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढ़' (रघुवंश)

सूकर-वृन्द डहर में जाई। खोद निढर मोथा-जर खाई॥
शिथिल प्रत्यञ्चा धनुष हमारो। आज त्याग श्रम होइ सुखारो॥

यह है सौंदर्य का साम्यमय प्रभाव! जिसके आगे पशु भी अपनी पशुता छोड़ देते हैं, फिर दुष्यन्त तो था मनुष्य!

राजा जहाँ जाता है, वहाँ राजा ही रहता है। आश्रम में भी उसे राक्षसों से रक्षा करने का भार मिल जाता है। पीछे से यह कर्तव्य बड़ा मधुर बन जाता है। आरम्भ से ही दुष्यन्त मे राजोचित शील, शिष्टाचार और विनय के भाव दिखाई पड़ते हैं। वह पहले ही ऋषि के बारे में पूछता है और आश्रम की शान्ति भंग का ध्यान रखता है। तपस्वियों पर आतिथ्य-भार अधिक न पड़े, इस भय से फौज-फाटा वापस भेज देता है।

राजा शकुन्तला के वन्य कुसुम के से सहज सौंदर्य को देखकर मुग्ध हो जाता है। शकुन्तला का आश्रम के वृक्ष और लताओं के साथ अभेद संबंध था। यदि कहीं जड़ और चेतन का साम्य था तो उस आश्रम में। शहर के बनाव-शृङ्गार से दूर उस तपस्विनी बाला का जीवन सद्यः सौरभ से समन्वित 'वन्य ज्योत्स्ना' के कुसुमों का सा हरा-भरा और प्रसन्नतापूर्ण था। उसके लिए कृत्रिम आभूषणों की आवश्यकता न थी—
'कहा न भूषण होइ जो, रूप लिख्यो विधिभाल।'

दुष्यन्त शकुन्तला के प्राकृतिक सौंदर्य के आकर्षण मे आता है किन्तु वह पतंगे की भाँति दीप-शिखा पर टूट नहीं पड़ता। वह उसकी जाति-पाँति पूछकर लोक-मर्यादा का पालन करता है। सबसे अधिक वह अपने शुद्ध अन्तःकरण की प्रवृत्ति पर ध्यान देता है। उनका मन इतना शुद्ध है कि उसका विचलित होना ही उसकी नैतिकता का प्रमाण है।

भयो जु मेरो शुद्ध मन, अभिलाषी या माहिं।
ब्याहन छत्री जोग यह, संशय नैकहु नाहिं॥
होत कछू सन्देह जब, सज्जन के हिय आय।
अन्त करण प्रवृत्ति ही, देत ताहि निपटाय॥

इसको साहित्यशास्त्र में मति या आत्म-निश्चय कहते हैं। कवि-कुलचूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी पुष्पवाटिका के अवसर पर श्रीरामचन्द्रजी से ऐसा ही कहलाया है—

जासु विलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मन छोभा॥
सो सबु कारन जान विधाता। फरकहिं सुन्दर अग सुन भ्राता॥
रघुवसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मन कुपंथ पगु धरइ न काऊ॥
मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहुँ परनारि न हेरी॥

 दुष्यन्त और शकुन्तला का मिलन भौतिक अवश्य है। उसमें आध्यात्मिकता की सुगंध अभी प्रस्फुटित नहीं हुई है किन्तु आध्यात्मिक सौरभ पार्थिव सुमन के सौरभ की भाँति बाद की चीज है। आश्रम का मिलन पार्थिव-सुख का स्वर्ग है। मर्त्य और स्वर्ग रस्सी के ऊपर और नीचे के छोर हैं। यह लोक उस लोक का प्रथम सोपान है। यह है पृथ्वी की झाँकी। स्वर्ग की झलक प्राप्त करने के लिए सुख-स्वप्न थोड़ी देर के लिए भङ्ग किया जाता है क्योंकि बिना तप की उष्णता के फल मे मिठास नहीं आता है।

अभी तक दुष्यन्त और शकुन्तला प्राकृतिक शक्तियों के बहाव मे थे। मनुष्य अपने नैतिक विधान में प्रकृति से कुछ ऊपर जाता है। अब उनको कुछ ऊँचे उठने की ज़रूरत थी। वे संयम जानते थे किन्तु उसमें उनकी दीक्षा पूरी नहीं थी। उनको अभी संयम का पाठ पढ़ना था। संयमहीन आनन्द अपनी तीव्रता और स्थायित्व को खो देता है। जो नदी कूल के बन्धन में नहीं चलती है, वह गति नहीं प्राप्त करती। संयम सौन्दर्यबोध की कुंजी है। आतप में चलकर ही वृक्ष की शीतल छाया का सुखद आस्वाद मिलता है। क्षणिक संयोग को स्थायी बनाने के लिए वियोग का व्यवधान आता है।

दुष्यन्त आश्रम को छोड़कर अपनी राजधानी को पधारते हैं। जब वे शकुन्तला को बुलाने के लिए किसी को नहीं भेजते, तब महर्षि कण्व उसे माता गौतमी तथा दो शिष्यों के साथ राजदरबार में भेजने का आयोजन करते हैं। शकुन्तला नाटक का यह स्थल सब से अधिक मर्मस्पर्शी माना जाता है। कहा भी है—'तत्रापि चतुर्थोऽङ्कः' यानी शकुन्तला में भी चौथे अंक की महत्ता है। भारतीय दुहिताओं की विदा का दृश्य चिरकाल से मानव-हृदय को स्पर्श करता रहा है। डेढ़ दो हज़ार वर्ष पहले के और आज के समाज में रेखामात्र भी अन्तर नहीं आया मालूम पड़ता है! काव्य में ऐसे मर्मस्पर्शी दृश्य चिरमहान् और चिरपुरातन होते हुए भी चिरनूतन रहते हैं। कालिदास ने यहाँ पर मानव-प्रकृति का बड़ा हृदयग्राही परिचय दिया है। शकुन्तला आश्रम मे पली थी। लता-गुल्मों के साथ बढ़ी थी। फिर इस जीवित सम्बन्ध का विच्छेद क्यों न मर्मभेदी हो। आश्रम के वृक्ष, लताएँ और पशुपक्षी अपना व्यक्तित्व रखते थे। वे मूक थे तथापि वे मानव-हृदय के साथ प्रतिस्पन्दित हो उठते थे। देखिए—

लेत न मुख में घास मृग, मोर तजत नृत जात।
आँसू जिमि डारत लता, पीरे पीरे पात॥

शकुन्तला के जाते समय उसका प्यारा मृगछौना उसका पीछा नहीं छोड़ता। उसके पीछा करने की क्या सुन्दर व्याख्या दी गई है। देखिए—

कहुँ दाभन तें मुख जाको छिदो, जब तू दुहिता! लख पावति ही।
अपने कर ते तिन घावन पै, तुहि तेल हिंगोट लगावति ही॥
जिहि पालन के हित धान समा, नित मूठिहि मूठ खवावति ही।
मृगछौना सो क्यों पग तेरे तजे, जाहि पूत लौं लाड़ लड़ावति ही॥

भावी महिषी अपने पति-गृह जाते समय हरिणी की सुधि नहीं भूलती और महर्षि कण्व से कहती है कि—'हे पिता, जब यह कुटी के निकट चरने वाली ग्याभिन हरिनी क्षेम-कुशल से जने, तुम किसी के हाथों यह मंगल-समाचार मुझे कहला भेजना; भूल मत जाना'। जानवरों के प्रति घर की बालिकाओं के स्वाभाविक प्रेम का कैसा सुन्दर चित्रण है! यही था आश्रम का पारिवारिक जीवन।

शकुन्तला एक-एक लता से प्रियजनों की भाँति भेंटती है। नवमल्लिका से भेंट कर उसे अपने स्नेह-भाजन की भाँति अपनी सखियों को सौंपती है। सखियाँ भी विदग्धतापूर्ण करुणा के साथ कहती हैं—'हमें किसके हाथ सौंपती हो?'

ऋषि ने जो वृक्षों से शकुन्तला को बिदा दिलाई है, वह भी बड़ी मार्मिक है—

हे तपोवन के सहवासी वृक्षो!

पीछे पीवत नीर जो, पहले तुमको प्याय।
फूल पात तोरत नहीं, गहने हू के चाय॥
जब तुम फूलन के दिवस, आवत हैं सुखदान।
फूली अंग समात नहिं, उत्सव करत महान॥
सो यह जाति शकुन्तला आज पिया के गेह।
आज्ञा देहु पयान की तुम सब सहित सनेह॥

ऋषि की अन्तिम शिक्षा और उनका आशीर्वाद तो उनके अनुरूप है ही किन्तु उनके तपस्याजर्जर शरीर के भीतर कोमल हृदय का परिचय, जो नीचे दोहों में मिलता है, वह बड़ा मनोवैज्ञानिक और हृदयस्पर्शी है। शकुन्तला के यह कहने पर कि 'पिताजी, मेरे लिए बहुत शोक मत करना क्योंकि तुम्हारा तपस्यापीड़ित दुर्बल शरीर है' महर्षि कण्व

 गहरी साँस लेकर कहते हैं—

तैं आगे वोये सुता ! पूजा हित नीवार । सो उपजे हैं आय ये परण-कुटी के द्वार ॥
इन्हें लखत कैसे सकूँ अपनी बिथा मिटाय । जो बिछुरन ते जो भई मेरे हिय में आय ॥

स्मरण दिलाने के लिए सम्बन्ध-ज्ञान (Association of ideas) बहुत प्रबल साधन है । पुत्री के बोये हुए नीवारों को देखकर अवश्य ही ऋषि का जी भर आता होगा । जब ऋषियों का यह हाल था तो साधारण मनुष्यों का क्या कहना ?

मो से बनवासीन जो, इतो सतावत मोह ।
तो गेही कैसे सहैं, दुहिता प्रथम बिछोह ॥

मानवी सम्बन्धों में भगिनी और पुत्री का प्रेम सब से पवित्र है। कालिदास ने शकुन्तला के चौथे अंक में इस पर परिचय देकर मानव-जाति को पवित्र किया है ।

शकुन्तला पति-गृह को जाती है किन्तु पति द्वारा पहचानी नहीं जाती । महाभारत के दुष्यन्त की भाँति नाटक का दुष्यन्त उसे जान-बूझ कर परित्याग नहीं करता वरन् ऋषि दुर्वासा के शाप के कारण वह विवाह की बात भूल जाता है । कालिदास की यह सूझ उनके कवित्व का परिचय देती है, जिसके लिए दुष्यन्त यह कह चुका था कि 'तेरे ही बस मो हियो अरु काहू बस नाहिं' उसका जान-बूझकर तिरस्कार करना मानव-हृदय की विडम्बना होती, नायक का नायकत्व जाता रहता, वह धीर कहलाने का अधिकारी न रहता । शापजन्य विस्मृति के ही कारण तो दुष्यन्त क्षमा पा सकता है । कश्यपजी कहते हैं—

निठुर भयो पति भूलि सुधि, तू त्यागी वश शाप ।
दई तोहि अब भ्रम मिटै, सब विधि प्रभुता आप ॥

अँगूठी के खो जाने से स्मृति जाती रही और उसके आने से स्मृति लौट आई । जब तक स्मृति नहीं आई, दुष्यन्त शकुंतला की दीनता से प्रभावित होता हुआ भी दृढ़ रहा । उसको अपने वंश की मर्यादा का ख्याल रहता है । इस भावी आपत्ति की आशंका कवि ने शुरू से अँगूठी के खो जाने की प्रत्यक्ष शंका और चकवी के वियोग के संकेत द्वारा करा दी थी किन्तु वास्तविक आपत्ति शंकाओं और सम्भावनाओं से कहीं अधिक तीव्र होती है । शकुन्तला के जीवन में वह कठिनतम परीक्षा थी । उसने उपालम्भ अवश्य दिया किन्तु आत्म-सम्मान नहीं खोया । अवसर पर गौतमी और तपस्वियों का स्वाभिमान भी दर्शनीय है ।

शकुन्तला का सात्त्विक रोष दुष्यन्त को भी यह स्वीकार करने को [९९
बाध्य कर देता है कि यह रोष बनावटी नहीं है। शकुन्तला का आकर्षण उस समय और भी दृढ़ हो गया होगा क्योंकि सौन्दर्य के अश्रु हास्य से कहीं मोहक होते हैं किन्तु दुष्यन्त तो भी कुलमर्यादा के प्रश्न पर दृढ़ रहा। भगवान् रामचन्द्रजी ने भी तो कुलमर्यादा के लिए सती साध्वी आसन्न-प्रसवा सीता का त्याग किया था। इसे न्याय कह लें, कुलमर्यादा का गर्व बता दें किन्तु यह बात मानवता से कुछ हटी हुई मालूम होती है। कालिदास को इस मानवता का ख्याल था। इसी लिए उन्होंने पुरोहित से प्रस्ताव कराया कि जब तक शकुन्तला के बालक का जन्म हो, तब तक वह उनके घर रहे। लेकिन शकुन्तला के रक्षक और थे। उसका सम्बन्ध स्वर्ग से था, वह वहीं पहुँच गई। नारियों के तिरस्कार करने वाले मानव-समाज में उसको स्थान न था। वह पिता के घर भी किस मुँह से जाती। कन्या के लिए माता का द्वार सदा खुला रहता है।

अँगूठी मिल जाने से स्मृति लौट आती है। वह स्मृति दुष्यन्त के लिए अभिशाप बन जाती है। पीडा और पश्चात्ताप से वह दब जाता है। जिस प्रकार भवभूति ने राम को दण्डक वन मे ले जाकर और सीता को अदृश्य कर सीता को राम के पश्चात्ताप का ज्ञान करा दिया है, उसी प्रकार कालिदास ने सानुमती अप्सरा को दुष्यन्त का परिताप दिखाकर उसे दोषमुक्त कराया है।

दुष्यन्त के परिताप की मात्रा, जब तीव्रतम होकर चरम सीमा को पहुँच जाती है, तभी उसके लिए स्वर्ग से निमंत्रण मिलता है। शकुन्तला के विरह के साथ-साथ पुत्र के अभाव का स्मरण होना मानो करेले को नीम-चढ़ा बना देना था। परिताप का आधिक्य ही स्वर्ग के द्वार की कुञ्जी है।

मातलि इन्द्र का निमंत्रण लाता है। वह बड़े मनोवैज्ञानिक कौशल से काम लेता है। वह जानता था कि दुष्यन्त चाहे जैसे कर्तव्यपरायण क्यों न हों शायद ऐसी विरह-विह्वल दशा में इन्द्र का निमन्त्रण स्वीकार करने को तैयार न होंगे। हर एक बात के लिए चित्त में ग्राहकता चाहिए। वीर रस को मन में स्थान दिलाने के लिए उसने माढव्य को पीटकर राजा में रौद्ररस की जागृति की है। माढव्य दुष्यन्त के निकट था। इन्द्र दूर थे। निकट की चीज की उपेक्षा नहीं की जा सकती, दूर की चीज़ के लिए चाहे आनाकानी कर दी जाय। माढव्य के ठोकने के रहस्य को

 मातलि द्वारा ही व्यक्त करा दिया गया है। मातलि कहता है—'किसी कारण आपको उदास देखा। तब रोष दिलाने के लिए यह काम किया था।'

ईंधन के डारे बिना, बढति न पावक लोइ,
फण न उठावत नाग हूँ जो छेड़ो नहिं होइ।
नर न लेत अभिमान मन, बिना क्षोभ कछु पाय,
कहियत इन तीनोंन के बहुधा यही सुभाय॥

स्वर्ग से कुछ उतरकर किन्तु मार्त्यलोक से कुछ ऊँचे पर प्रजापति कश्यप को प्रणाम करने की इच्छा से आये हुए दुष्यन्त को पुष्प और फल दोनों के एकत्र दर्शन हो जाते हैं। शकुन्तला का प्रथम मिलन भी ऋषि के आश्रम में हुआ था और दूसरा मिलन भी आश्रम में होता है किन्तु पहाड़ की उच्च भूमि पर वहाँ पर केवल श्रृङ्गार था। यहाँ श्रृङ्गार और वात्सल्य दोनों। स्वर्ग में आने से पूर्व उसके मन में दो चिन्ताएँ थीं—शकुन्तला का पुनर्मिलन और पुत्र का अभाव। सर्वदमन को देखकर उसके हृदय से वात्सल्य भाव की कैसी सुन्दर अभिव्यक्ति होती है!

माँगि खिलौना लैन को, जबहि पसार्‌यौ हाथ।
जाल गुथी सी आँगुरी, सब दीखीं इक साथ॥
मनहु खिलायो कमल कछु, प्रात अरुण ने आय।
नेक न पखरुनि बीच में अन्तर परत लखाय॥

बच्चे की अँगुलियों के बीच का अन्तर मिटाने वाली स्वाभाविक अरुणिमा का कैसा सुन्दर वर्णन है। एक और वर्णन लीजिए—

दुष्यन्त—इसके खिलाने को मेरा जी कैसा ललचाता है!

हाँसी बिन हेत माँहि दीखति।

हाँसी बिन हेत माँहि दीखति बतीसी कछू
निकसी मनो है पाँति ओछी कलिकान की।
बोलन चहत बात टूटी सी निकसी जाति
लागति अनूठी मीठी बानी तुतलान की।
गोद तें न प्यारी और भावे मन कोई ठाँव
दौरि दौरि बैठें छोड़ि भूमि अँगनान की।
धन्य धन्य वे हैं नर मैले जो करत गात
कनिया लगाइ धूरि ऐसे सुवनान की॥

अब दुष्यन्त और शकुन्तला के पति-पत्नी सम्बन्ध की प्रामाणिकता वन के एकान्त में स्थापित नहीं होती। सर्वदमन के गंडे का दुष्यन्त द्वारा बिना किसी हानि के उठाया जाना उसके पितृत्व को प्रमाणित कर

देता है। दुष्यन्त और शकुन्तला का अभिज्ञान हो जाता है। दम्पती
की तपस्या पूरी होती है और दुष्यन्त को क्षमा मिल जाती है। शकुन्तला अपने अपमानों को भूलकर कहती है—'उठो, प्राणपति, उठो। उन दिनों मेरे पूर्वजन्म के पाप उदय हुए थे, जिन्होंने सुकर्मों का फल मेट मेरे दयावान् पति को मुझसे निस्नेह कर दिया।'

शकुन्तला और दुष्यन्त का मिलन जो यहाँ पर हुआ है, उसमें संयम की मात्रा अधिक है। दूध का जला छाछ फूँक-फूँककर पीता है। सावधानी के साथ प्रजापति कश्यप के दर्शन किये जाते हैं। विधिवत् उनके आशीर्वाद की याचना की जाती है। नीचे के भरत-वाक्य के पूरे होने की प्रार्थना से नाटक का अन्त होता है।

प्रजा काजै राजा नित सुकृत पै उद्यत रहैं,
बड़े वेदज्ञानी हितसहित पूजैं सरसुती।
उमास्वामी शम्भू जगत-पति नीलोहित प्रभू,
छुटावैं-मोहू कौं बिपति अति आवागवन सों॥

कितनी सात्त्विकता है! इसी कर्तव्य की उच्च भूमि मे स्वर्ग और मर्त्य का मिलन होता है। पुष्प और फल के एक साथ दर्शन होते हैं और तपस्या के पश्चात् मिलन चिरस्थायी बन जाता है।

रस, अलङ्कारों, सन्धियों, अवस्थाओं की दृष्टि से तो यह नाटक पूर्ण है ही किन्तु इसमें भारत की सात्त्विक संस्कृति का चित्र है और इससे जो रस का संचार हुआ है, उसके लिए यह नाटक सहृदय सज्जनों के हृदय में सदा आदर पायगा।

उत्तररामचरित *

'उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते।'

भारत के प्राचीन नाट्यकारों में अनेकानेक उज्ज्वल नक्षत्र हैं, जिनकी प्रतिभा की कोमल रश्मियाँ सुदूर अतीत से आकर हमारे तमोमय मानस को आलोकमय करती हैं, किन्तु उनमें कालिदास और भवभूति सूर्य और शशि के समान हैं। तुलसी और सूर की भाँति इनमें भी यह कहना कठिन है कि कौन शशि है और कौन सूर्य। देवताओं में किसको छोटा कहा जाय और किसको बड़ा? भारत की जिस लोक-रुचि ने नाटकों में शकुन्तला को प्रथम स्थान दिया है, उत्तररामचरित के सम्बन्ध

* इसमें दिये गये उद्धरण कविरत्न सत्यनारायण के अनुवाद से हैं।

१०२] में उसका यह कहना है कि उत्तररामचरित में भवभूति ही बढ़े-चढ़े हैं। इसका कारण यह है कि इसमें शकुन्तला की अपेक्षा करुणा की मात्रा अधिक है। कालिदास की शकुन्तला भी निर्वासित रही और उत्तररामचरित की सीता भी, किन्तु दोनों में कुछ अन्तर है। दुष्यन्त दुर्वासा के शाप के वश अपनी स्मृति खो बैठे थे। उन्होंने यदि आसन्नप्रसवा शकुन्तला का परित्याग किया तो पति के रूप में उनका कोई उत्तरदायित्व न था। यदि कोई तकाजा था तो मानवता का। उसके लिए उन्होंने अपनी कुल-मर्यादा और नेकनामी को संकट मे नहीं डालना चाहा। राम ने पतिधर्म का बलिदान किया।

शकुन्तला की आलोचना में, जैसा कहा गया है, पुरोहित ने मानवता का पक्ष लिया था। यहाँ राम के सामने कौन था जो उनकी बात को काटता। सब आज्ञा की मर्यादा में बँधे थे और कोई गुरुजन भी वहाँ न थे। उत्तररामचरित में एक मानसिक संघर्ष है (यद्यपि संघर्ष आजकल की वस्तु मानी जाती है)। वह संघर्ष है राजा और पति का, कुल की ख्याति को अक्षुण्ण रखने का और सीता के प्रति न्याय का, व्यक्ति और कुल का, लोकपक्ष और आत्मपक्ष का। किन्तु यह संघर्ष कर्तव्य में बाधा नहीं डालता। राम ने लोकमत की बलिवेदी पर सीता का बलिदान कर दिया और उसके प्रसाद में अपने लिए चिरव्यथा प्राप्त की। उन्होंने अपने आँसुओं से अपने पति-धर्म के कलंक को धो डाला। उत्तररामचरित की मूल समस्या इस संघर्ष का शमन है। इसमें राम की अपेक्षा सीता की महत्ता बढ़ जाती है। यह राम का उत्तर चरित अवश्य है, किन्तु यह वास्तव में सीता की लोकोत्तर सहनशीलता का उद्घाटन है।

भवभूति ने राम को इस संघर्ष की आग से बचाने के लिए आरम्भ से ही प्रयत्न किया है। अपने पाठकों को और दर्शकों को आने वाली घटनाओं के लिए क्रमशः तैयार करने में भवभूति बड़े कुशलहस्त हैं।

सीता के लाञ्छन की सब से पहली व्यञ्जना हमको सूत्रधार के वचनों में ही मिलती है—

कुटिल मनुज सों रहि सकत, भला कौन निस्संक।
सद्वनिता कवितान में, जो नित लखत कलंक॥

यह व्यञ्जना नट के वचनों मे और भी स्पष्ट हो जाती है—

नट—अजी, ऐसों को तो अति कुटिल कहना चाहिए। क्योंकि,

सती सियहु को दोस दै, जन सब करत अनीत।

अपर तियन की जगत में को करिहै परतीत॥

सद्वनिताओं के साथ सत्कविताओं की जो बात कही गई है, उसका सम्बन्ध भवभूति के निजी जीवन से है। शायद भवभूति को अपने कवि-जीवन में उतनी ख्याति नहीं मिली, जितनी कि उनके लिए उचित थी। इस खेद की छाया मालतीमाधव में मिलती है, जहाँ वे कहते हैं कि—काल निरवधि है और पृथ्वी विपुल है। कहीं और कभी तो मेरा समझने वाला मिलेगा *। अस्तु, पहले अंक मे ही भावी घटनाओं के लिए भूमिका बन जाती है। इस अंक की दो विशेषताएँ हैं। सीता और राम के परस्पर प्रेम तथा राम की प्रजावत्सलता दिखाकर चित्रशाला का दृश्य लाया जाता है। इसके लाने से एक साथ तीन काम होते हैं। पूर्वकथा का तारतम्य दिखलाना, राम के शील का उद्घाटन, जैसा कि परशुराम और कैकेयी के चरित्रों को बचाने से प्रमाणित होता है, और सीता के हृदय में दण्डक वन देखने की इच्छा जागरित करना।

आरम्भ मे अष्टावक्रजी का आगमन होता है। वे वसिष्ठ और अरुन्धती तथा महारानियों की ओर से दो भिन्न प्रकार के संदेस लाते हैं। वसिष्ठ का संदेस श्रीरामचन्द्रजी के राज-धर्म से सम्बन्ध रखता है और देवियों का उनके पति-धर्म से। दोनों ही सीता के निर्वासन मे राम के सहायक बन जाते हैं। देवियों का तो यह संदेस था कि सीता का मन जिस किसी वस्तु पर चले, वह अवश्य ही उपस्थित की जाय। अब वसिष्ठ जी का भी आदेश सुनिए—

तुव धर्म नित्य प्रजानुरंजन, निज प्रमाद विहाय।
तज्जनित जस धन प्रचुर ही, रघुवंश की प्रभुताय॥

रामचन्द्र के उत्तर में भावी घटनाओं की छाया और भी स्पष्ट हो जाती है—

मोह, दया सुख, सम्पदा, जनकसुता ! बरु होहि।
प्रजा-हेतु तिनहूँ तजत, बिथा न व्यापहि मोहि॥

यद्यपि इस उत्तर ने सीता का क्षणिक तोष अवश्य किया, क्योंकि उन्होंने इस क्रमिक उत्थान मे सीता को सब से अधिक महत्ता दी और उससे अधिक महत्ता प्रजा को दी तथापि इसमें उन्होंने अपना कर्तव्य पहले से ही निश्चित कर भावी परिस्थिति का दिग्दर्शन करा दिया। पहले

---

* उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोपि समानधर्मा,
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।

 से इस बात को कहला देने का एक और अभिप्राय था। वह यह कि सीता के वन जाते समय राम अपनी सफ़ाई देने को उपस्थित न होंगे। राम ने जो बातें इस दोहे में कहीं, उन सभी का परित्याग किया गया। सीता के निर्वासन में मोह, दया, सुख और सम्पदा सभी का त्याग करना पडा। श्रीरामचन्द्रजी ने कुल के यश और लोक-मत का मूल्य सब से अधिक समझा। चित्रशाला में जाने से पूर्व एक बार सीता के सामने ही सफ़ाई दिला दी जाती है।

लक्ष्मण जी से पूछने पर कि चित्र कहाँ तक तैयार हुए, वे कहते हैं—'महारानी की अग्नि-शुद्धि तक।' इस पर रामचन्द्रजी का उत्तर देखिए—

हैं! हैं! ऐसा मत कहो।
अति पुनीत सिया निज जन्म सों, तिहि भला पुनि पावन को करै।
लहि सके कहुँ अन्य पदार्थ सों, अनल तीरथ-तोय विशुद्धता॥

हे यज्ञभूमि से उत्पन्न हुई देवी! (यह वाक्य सीता की परिशुद्धता की व्यञ्जना करता है। यज्ञ पवित्रता का प्रतीक है) क्षमा करना यह तो जन्म भर का कलंक तुम्हारे सिर हो चुका। तुम्हारी पवित्रता के विषय में मुझे रत्ती भर भी संदेह न था।

कुल कीरति रूप चहैं धन जे, ते महीप प्रजा को करैं मनभावत।
यहि सों मम बैन कहे जो अजोग, नहीं तुव जोग अबै लौं सतावत॥

चित्रशाला के दिखलाने में कुशल कवि ने लक्ष्मणजी से यह भी कहला दिया है कि सीताजी के हरे जाने पर राम को कितनी व्यथा हुई थी। सीताजी का मूल्य उनकी दृष्टि में कितना अधिक था, किंतु प्रजानुरंजन का मूल्य उससे भी अधिक था। देखिए, दबी हुई व्यथा का कैसा सुन्दर वर्णन है—

तुव नयनन सन टपकत टपाटप यह लगी अँसुअन झरी।
बिखरी खरी भुअ पै परी जनु टूटि मोतिन की लरी॥
रोकत यदपि बल सों विरह की वेदना उर तउ भरै।
जब अधर नासा-पुट कंपहिं अनुमान सों जानी परै॥

इसी अवसर पर भवभूति सीता के मन में भी भावी वियोग की छाया डाल देते हैं—

सीता—हा धिक् धिक्! उद्वेग के विपुल हो जाने के कारण मुझे ऐसा सूझ पड़ता है कि मानो आर्यपुत्र से फिर मेरा वियोग हो गया हो।

भवभूति ने दण्डक वन के चित्र दिखलाकर सीता के मन में वन की इच्छा जाग्रत की है—

सीता—मेरे मन में आता है कि एक बार फिर उन सघन सुन्दर वनों में विहार करूँ और भगवती भागीरथी के निर्मल शीतल गम्भीर नीर में खूब जी-भरकर गोते लगाऊँ।

राम—भैया लक्ष्मण!

लक्ष्मण—महाराज!

राम—देखो, अभी तो गुरुजनों की आज्ञा मिली है कि गर्भिणी की जो इच्छा हो, पूर्ण कर देना। सो तुम जाकर एक उत्तम रथ ले आओ, जिसमें इन्हें हाल न लगे।

सीता—महाराज, आपको भी साथ चलना पड़ेगा!

राम—हे कठोर हृदय वाली! भला यह भी क्या तुम्हारे कहने की बात है!

सीता—बस, ऐसी ही बातों से आप मुझे बहुत प्रिय हैं।

बेचारी सीता नहीं जानती थी कि वन-दर्शन की तो इच्छा पूरी होगी किन्तु उनके साथ राम नहीं जायँगे। राम के विना वन-दर्शन क्या? यही तो भाग्य की विडम्बना है!

सीता थककर राम की बाँह का सिरहाना लगाकर पूर्ण विश्वास के साथ सो जाती हैं। उनके सोते में ही उनके भाग्य का निर्णय हो जाता है।

भवभूति अपनी नाटकीय कला द्वारा भावी वियोग के आगमन की बड़े कौशल के साथ सूचना दे देते हैं। गोद में सोई हुई सीता के विषय में राम कहते हैं—

कछु न जाको लगत अस, जहाँ न सुख-संयोग।
किंतु दुसह दुख को भरयो, केवल जासु वियोग॥

प्रतिहारी—उपस्थित है महाराज!

आया तो दुर्मुख लेकिन उसका आना वियोग का आना ही हुआ। ऐसे स्थल को नाटकीय परिभाषा में पताका-स्थानक कहते हैं।

यह वियोग भी तब आता है, जब कि राम सीता के प्रेम में आपादमस्तक मग्न होकर उनके प्रेम की सराहना नीचे के शब्दों में कर रहे थे। देखिए, प्रेम का कैसा सुन्दर चित्रण है—

सुख-दुख में नित एक, हृदय को प्रिय विराम थल।
सब विधि सों अनुकूल, विसद लच्छनमय अविचल॥
जासु सरसता सकै न हरि, कबहूँ जरठाई।
ज्यों ज्यों बाढ़त सघन, सघन सुन्दर सुखदाई॥
जो अवसर पै संकोच तजि, परनत दृढ़ अनुराग सत।
जग दुरलभ सज्जन प्रेम अस, बड़भागी कोऊ लहत॥

 दुर्मुख आकर प्रजा के चवाउ की भी बात कह देता है।

राम में कुल-धर्म प्रबल था। कुल-धर्म और राज-धर्म की पुकार सुनिए—

जग उत्तम रविकुल-नृपति, सब विधि परम पवित्र॥
तिन कर अनुकरनीय प्रिय, उज्ज्वल साधु चरित्र॥
सो तिह कुल मो जनम सों, भयो मलीन अपार॥
जग जिह चलत चवाउ अस, मुहिं अधमहिं धिक्कार॥

रामचन्द्र अपने निर्णय में देर नहीं लगाते हैं और वे कह देते हैं—'दुर्मुख, तुम लक्ष्मण से जाकर कहो कि तुम्हारे नये महाराज राम की यह आज्ञा है।' यह आज्ञा सचमुच सीता-पति राम की न थी, वरन् रघुकुलाभिमानी अवधेश राम की थी।

कुलमर्यादा और राजधर्म ने राम की वाणी पर शासन कर लिया था, मन पर नहीं। उनका मानव और पति-हृदय जानता था कि उन्होंने सीता के साथ अन्याय किया है, उसके साथ अन्याय ही नहीं किया है वरन् विश्वासघात भी किया है। विश्वास के साथ सोई सीता को एकदम निर्वासन की आज्ञा उनको वन दिखलाने के बहाने से दी है। देखिए, इस धोकेबाज़ी की स्वीकृति राम कैसे मुक्तकंठ से देते हैं—

निज बालपने सों सदा ही पली जनकादिक की हिय मोद जई॥
उर अन्तर जो कबहूँ न करयो सब भाँति सों मो ते सनेह छई॥
अब दैकें दगा अपराध बिना तिहि सीय कों, हाय ये कैसी भई॥
जमराज के आनन दैन चहौं जनु मैना कसाइ को सौंपि दई॥

भवभूति ने राम के लिए सफ़ाई की सामग्री तय्यार कर दी थी। यदि कोई कोरा कर्तव्य-पालन करने वाला होता तो उस सफ़ाई से अपने मन को समझाकर अपने को निर्दोष समझने लगता, किन्तु राम थे महान् पुरुष। वे अपने दोष और अन्याय के लिए आँखें बन्द करना नहीं जानते थे। वे अपने कार्य की लीप-पोत और ऊपरी व्याख्या से संतुष्ट नहीं होते थे। उनकी वेदना असह्य हो जाती है और वे कह उठते हैं—

जगत में नित भोगन की विथा बस मिल्यो यह जीवन राम कों।
मरमभेदक प्रानन सों जड्यो सकत ना कढ़ि बेवस चेतना॥

राम को इस अनिष्ट कार्य के करने से कोई रोकने वाला न था—न राजगुरु वसिष्ठ और न राजमाता कौसल्या। उनकी आज्ञाओं का दुरुपयोग हुआ था। वे होतीं तो शायद यह दुर्घटना न होने पाती। कौसल्या आदि देवियाँ मानवता की प्रतीक थीं। वे सीता-शून्य अयोध्या

में लौटी ही नहीं । सीता के जाते समय राम भी उपस्थित न [
थे । वे भी राजकाजवश राज-भवन से बाहर गये थे । ठहरते भी तो किस मुँह से ?

राम के चले जाने पर सीता के हृदय में क्षोभ अवश्य उत्पन्न होता है, किन्तु राम के प्रति उनके हृदय का प्रेम इतना अगाध है कि वे अपने ऊपर विश्वास नहीं कर सकतीं कि वे उन पर क्रोध कर भी सकेंगी । हाय धिक्कार ! धिक्कार ! जो मुझ अकेली को सोते छोड़ वे चले गये । अच्छा, देखा जायगा । फिर मिलने पर जो मैं अपने बस रही तो उन पर बिना कोप किये न रहूँगी । यह है भारतीय पत्नी का आदर्श ।

सीता वन को प्रस्थान करती हैं किन्तु उपालम्भ का एक शब्द भी मुँह से नहीं निकलता । ऋषियों, मुनियों, के साथ 'आर्यपुत्र-पद-पदमनि, जे मम सुख-सर्वस्व ललाम' की भी वन्दना करती हैं ।

सीताजी वन में पहुँच जाती हैं । वहाँ वे दो बालकों को जन्म देती हैं । वे वाल्मीकि जी को सौंपे जाते हैं और वे ही उनका पालन-पोषण करते हैं । इन सब बातों की सूचना आत्रेयी द्वारा दे दी जाती है । प्रसङ्ग-वश उनकी अवस्था का भी दिग्दर्शन करा दिया जाता है । इसी प्रसङ्ग में यह भी बता दिया जाता है कि उस समय सहशिक्षा होती थी, किन्तु आत्रेयी उन बालकों की प्रखर बुद्धि के कारण उनके पाठ में साथ नहीं दे सकती थीं । इसी विष्कम्भक में राम के अश्वमेध यज्ञ तथा उनके दण्डक वन में शम्बूक-वध के लिए जाने की भी सूचना दे दी जाती है । अश्वमेध के सम्बन्ध में राम की एक सफाई और उपस्थित हो जाती है, वह यह कि उन्होंने कोई नई सहधर्मिणी नहीं बनाई है । सीता की ही स्वर्णमूर्ति से काम चलाया है । इस पर सीता की सखी वासन्ती को कहना पड़ता है कि राम का चरित्र वज्र से भी कठोर और कुसुम से भी मृदुल है—

कुलिस सोंहु कठोर अपारहै, मृदु प्रसून हुँ सो जिनको हियो ।
अस अलौकिक जो जन जक्त में, सकत पाइ भला तिन थाह को ? ॥

राम शम्बूक-वध के लिए दण्डक वन में आते हैं । शम्बूक को मारने में भी हमें उनके सीता-निर्वासनजन्य खेद का पता चलता है । देखिए—

रे हस्त सूधे आज । द्विज सिसुहिं ज्यावन काज ॥
अब यह कृपान सम्हार । करु सूद्र मुनि पै चार ॥
अति दुसह गर्भहिं धारि । चित खिन्न जनक-कुमारि ॥
तव छीन जिहि कल नाहिं । तिहि बिजन वन के माहिं ॥

 जो तजत नहिं सकुचात। तां राम को तू गात॥
तो मधि कठोर नृशंस! कित सों दया कौ अंस॥

इस अवसर पर भवभूति ने दण्डक वन की सौम्य और घोर दोनों ही प्रकार की प्रकृतियों का चित्रण किया है। पहले सौम्य दृश्य देखिये—

ये गिरि सोई जहाँ मधुरी मदमत्त मयूरनि की धुनि छाई।
या वन में कमनीय मृगान की लोल कलोलनि डोलनि भाई॥
सोहै नदीतट धारि घनी जल वृच्छन की नव नील निकाई।
मंजुल वंजु लतानि की चारु चुभीली जहाँ सुखमा सरसाई॥

अब जरा क्रौंचगिरि की उग्र प्रकृति का वर्णन देखिये—

जहँ बाँस-पुंज-कुंज-कलित-कुटीर माहिं घोरत उलूक भीर, घोर घुघियाइकें।
तासु धुनि प्रतिधुनि सुनि काक-कुल मूकभयबस लेत ना उड़ान कहु धाइकें॥
इत उत डोलत, सुबोलत हैं मोर, तिन सोर सुनि, सरप दरप बिसराइकें।
परम पुरान श्रीखण्ड तरुकोटर में मारत स्वकुंडली सिकुरि घबराइकें॥

स्वर्गीय सत्यनारायणजी ने अपने अनुवाद में प्रकृति के मृदुल और घोर स्वरूपों के अनुकूल दोनों छन्दों में क्रमशः माधुर्य और ओज-पूर्ण भाषा का व्यवहार किया है।

दंडक वन में पहुँच कर वहाँ की सुरम्य वनस्थली को देखने से राम के मन में सीता के साथ सुख-पूर्वक बिताये हुए दिनों की स्मृति जाग उठती है और उसकी वेदना तीव्र हो जाती है। यहीं पर नाटककार ने सीता को अदृश्य करके दिखाया है, जिससे कि सीता राम का संताप देख कर उनको निर्वासन के अपराध से मुक्त कर दें और राम सीता को न देख सकें। पञ्चवटी में पहुँचते ही ऐसा प्रसङ्ग आ जाता है कि सीता जी अनायास ही राम की सहायता के लिए चिल्ला उठती हैं। उनके पाले हुए हाथी के बच्चे को कोई दूसरा दुष्ट हाथी सताता है। सीता से यह नहीं देखा जाता। वे पूर्व अभ्यास की भाँति चिल्ला उठती हैं—'बचाओ आर्यपुत्र, मेरे उस बच्चे को बचाओ।' भय में कृत्रिम संयम जाता रहता है और अपने प्रियजनों का ही आश्रय खोजना पड़ता है। सीताजी पहले चिल्ला पड़ती हैं किन्तु पीछे से सम्हल जाती हैं और बड़ी मनोवैज्ञानिक व्याख्या देती हैं।

हाय! हाय! वे ही बातें जिनके कहने का स्वभाव सा पड़ गया था, अब फिर पंचवटी को देखकर सहसा मेरे मुख से निकलती हैं। हा आर्यपुत्र!

वहाँ पर सीता की प्रिय सखी वासन्ती कभी तो राम को महाराज कह उनकी निर्दयता की याद दिलाती हैं और कभी पूर्वानुभावों की ओर

संकेत कर उनकी वेदना को और भी तीव्र बना देती हैं। देखिए, [१०९
कैसी उग्र वेदना है—

हा! हा! प्यारी! फटत हृदय यह जगत सून्य दरसावै।
तन-बन्धन सब भये सिथिल से अन्तर-ज्वाल जरावै॥
तो बिन जनु डूबत जिय तम में, छिन-छिन धीरज छीजै।
मोहावृत सब ओर राम यह मन्दभाग्य का कीजै॥

सीता को राम के हृदय की सत्यता मे पहले भी सन्देह नहीं था किन्तु इस संताप के आगे तो उनका हृदय पिघल जाता है। वे रामचन्द्र जी का सार्वजनिक महत्त्व जानती थीं और अपने आप कहने लगती हैं—

सीता—(आप ही आप) हा आर्यपुत्र! केवल मुझ अभागिनी के लिए समस्त संसार के मंगलाधार रूप आपका जीवन प्रतिक्षण दारुण संशयावस्था में पड़ रहा है। इससे बड़ी भारी विपत्ति की आशंका उपस्थित हुई है। हाय! अब मैं क्या करूँ?

भारतीय रमणी अपने पति का अत्याचार सह लेगी किन्तु उस को कष्ट में देखना नहीं सह सकती। रामायण के चित्रकूट की भाँति ऋषि वाल्मीकि का आश्रम बड़े महत्त्व का समागमस्थल बन जाता है। यहाँ जनक, वसिष्ठ, अरुन्धती, कौसल्या, लव, कुश, चन्द्रकेतु आदि सब इकट्ठे हो जाते हैं। यहीं पर हम विदेहराज के वात्सल्यभाव का दर्शन करते हैं। त्याग और तपस्या मे वे महर्षि कण्व से किसी प्रकार कम न होंगे।

देखिए, सीता का शिशुकालीन चित्र कैसा सुन्दर है!

छिनक रोवत पुनि हँसत बिनु हेतु चमकावत भली।
कोमल कली ज्यों कुंद की कल कढ़त निज दसनावली॥
तुतरात कहि कछु की कछू मंजुल मधुर बातैं घनी।
सिसुभाव के तुव कंजमुख की अजहुँ मोकहँ सुधि बनी॥

आगे चलकर देखिए जनकजी का सन्तान-गौरव का भाव किस उग्र रूप में जाग उठता है—

जनक—अरे! हमारी सन्तान को शुद्ध करने वाला अग्नि कौन होता है? हाय! हाय! इन निर्लज्ज बकवादियों का ऐसा कहना! राम की नहीं किन्तु हमारी भी बड़ी अप्रतिष्ठा का कारण हुआ है।

आगे हमको यज्ञीय अश्व के पकड़ने में लव की चपलतापूर्ण वीरता का परिचय मिलता है। उसी स्थल पर राम, सुमंत आदि सारे रघुकुल के प्रतिनिधि और हनूमान् आदि सहायक उपस्थित हो जाते हैं। लक्ष्मण के पुत्र चन्द्रकेतु और लव में युद्ध होकर मैत्री हो जाती है।

लव—ये कौन हैं ?

चन्द्रकेतु—ये मेरे आराध्यचरण पूज्य तात हैं।

लव—जैसे तुम्हारे लगते हैं, वैसे ही हमारे भी लगे; क्योंकि आप तो हमें मित्र मान चुके हैं न ?

बिना जाने सत्य अपने आप मुँह से निकल पड़ता है।

इसके आगे एक प्रकार से वात्सल्य रस का स्रोत उमड़ पड़ता है, जो मूल में पढ़ते ही बनता है। जिस प्रकार से शकुन्तला में सर्वदमन के गंडे से उसमें और दुष्यन्त में पिता-पुत्र के सम्बन्ध की सम्भावना दृढ़ हो जाती है, इसी तरह जृम्भकास्त्रों से, जो विश्वामित्र ने श्रीरामचन्द्रजी को और उनकी सन्ततिपरम्परा को दिये थे, लव के रघुवंशी होने की शंका दृढ़ हो जाती है। राम उनमे रघुकुल-राजकुमारों की छाया और चक्रवर्तियों के लक्षण देखते हैं—

विनय-उक्ति यद्यपि कुश लव की बरनि न जाई।
बैठनि उठनि अमोल चलनि बोलनि सुखदाई॥
तौऊ उच्च उदार भाव इन माँहि विलच्छन।
दरसावत नृप चक्रवर्ति के से सुभ लच्छन॥

इसके आगे कवि ने कौशल के साथ गर्भाङ्क के अभिनय द्वारा सीता के पुत्रजन्म आदि की कथा बतला दी है और सीताजी अरुन्धती द्वारा राम को सौंप दी गई हैं। उन्होंने कह दिया कि स्वर्ण की मूर्ति के स्थान में यज्ञ मे प्रत्यक्ष सीताजी को ही बिठाइएगा।

यह तुम्हारी सहधर्मिनी, प्रिया धर्म अनुसार,
परम प्रेम सों कीजिये, याकों अङ्गीकार।
जो सुवरन की प्रतिकृती, तुव ढिग ताके ठौर,
देउ पुण्यप्रकृती सियहिं, आसन रघुकुल-मौर॥

यहाँ पर भी सीता धर्माचरण के लिए सब के सामने अरुन्धती, वसिष्ठ और वाल्मीकि के प्रमाण-पत्र और आशीर्वाद के साथ लौटाई जाती है। नाटक का यह गर्भाङ्क बड़े कौशल के साथ लिखा गया है। इसकी सूचना पहले से लव की जबानी दिलवा दी गई थी। भवभूति वस्तुसंगठन में बड़े कुशलहस्त थे और जैसे वस्तुव्यापार दिखाने में थे, वैसे ही रस-संचार में। तभी तो उनके लिए कहा गया है कि उनकी करुणा पत्थर को भी पिघला सकती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे यहाँ के नाटकों में वस्तु और

रस-संचार का ख्याल किया गया है।

अब हम इब्सन के एक नाटक का परिचय कराकर आधुनिक काल की भावनाओं का भी दिग्दर्शन करायँगे।

चित्राङ्गदा *

रवीन्द्रनाथ ठाकुर संसार के इने-गिने कवियों मे से हैं। हमारे देश के लिए वे गौरव की वस्तु हैं। चित्राङ्गदा उन्हीं की रचना है। मूल में यह अतुकान्त छंदों में लिखी गई है। यद्यपि इसकी कथावस्तु पुराणों से ली गई है तथापि इसमें नारीसम्बन्धी कुछ आधुनिक समस्याओं पर विशेष कर स्त्रियों के पुरुषों के क्षेत्र में आकर उनके साथ प्रतिद्वन्द्विता करने के प्रश्न पर प्रकाश पड़ता है।

चित्राङ्गदा मणिपुर की राजकुमारी है। राजा को शिवजी का यह वरदान था कि उसके कुल में कोई कन्या नहीं जन्मेगी किन्तु शिवजी के वरदान को विफलकर उसका जन्म कन्या रूप से हुआ। यह इस बात का द्योतक है कि समाज मे कन्याओं की कितनी आवश्यकता है। समाज में उनका अवतरण मङ्गलकारी है। राजा ने इस विधि के विधान की अवहेलना कर उसे पुरुष-वेश में रक्खा। वह पुरुषों की तरह धनुष-बाण धारणकर शिकार खेलने लगी।

चित्राङ्गदा अपना परिचय इस प्रकार देती है—

चित्राङ्गदा हूँ मैं, राजकन्या मणिपुर की।
मेरे पितृवंश में न कन्या कभी जन्मेगी,
वर था प्रदान किया, ऐसा उमाकान्त ने
तप से हो तुष्ट। उसी शम्भु वरदान को
मैंने किया निष्फल! अमोघ ईश-वाक्य भी
पैठ मातृगर्भ में, न पुरुष बना सका
तुच्छारम्भ मेरे को, महान् शैव तेज से;
मैं हूँ वही क्रूर नारी।

पुरुष-समाज सज, तुल्य युवराज के
करती हूँ राजकाज, फिरती यथेच्छ हूँ,
जानती नहीं हूँ लाज और भय, साथ ही
अन्तःपुरवास;

---

* इस में जो उद्धरण दिये गये हैं, वे मुंशी अजमेरीजी के अनुवाद से हैं।

 एक बार मृगया के लिए चित्राङ्गदा वन में गई हुई थी। अर्जुन उस वन में अज्ञातवास व्यतीत करते हुए मार्ग में सो रहे थे। चित्राङ्गदा ने अपने बल और पौरुष के अभिमानवश उनसे रास्ता छोड़ कर उठ खड़े होने को कहा। वे नहीं उठे। उसने धनुष की नोक से उनको जगाया। वे इस तरह से उठ खड़े हुए, जैसे भस्म में सोई हुई अग्नि घी की आहुति डालने से प्रज्वलित हो उठती है। अर्जुन के विशालकाय पुरुषत्व को देख कर वह अपना कृत्रिम पुरुषत्व भूल गई। उसको अपने प्राकृतिक स्वरूप का ज्ञान हो गया। वह समझ गई कि धनुष-बाण ऐसे ही सुगठित और बलिष्ठ शरीर को शोभा देते हैं। उसे अपनी वीरता का अभिमान जाता रहा। ऊँट जब तक पहाड़ के नीचे नहीं जाता, तभी तक वह अपने को ऊँचा समझता है।

चित्राङ्गदा ने पुरुष-वेशभूषा और धनुष-बाण का परित्याग कर दिया। उसको ज्ञात हो गया कि युद्ध उसका उचित क्षेत्र नहीं है। उसकी बाल्य काल की जो साध थी कि कभी वह अर्जुन को युद्ध का निमंत्रण देगी, उसको देखते ही विलीन हो गई।

सोचा करती थी बाल्यकाल की दुराशा
यह कि—करूँगी प्रभाहीन वीरकीर्ति मैं
अर्जुन की अपने अपूर्व बाहुबल से,
साधूँगी अचूक लक्ष्य, वेश में पुरुष के
मिल उस वीर से करूँगी युद्ध-याचना
परिचय वीरता का दूँगी मैं। चली गई
मुग्धे! कहाँ स्पर्धा वह तेरी आज हाय रे!
दूसरे ही दिवस प्रभात को—
फेंक दिया पुरुष-परिच्छद उतारके।
पहनी सुरङ्ग साड़ी, काञ्ची और किंकिणी
कङ्कणों समेत।

चित्राङ्गदा अर्जुन से विवाह का प्रस्ताव करती है। वह अस्वीकार कर देता है। वह निराश हो घर लौट आती है। देवताओं से सौन्दर्य का वरदान माँगती है। वह हमेशा के लिए, सौन्दर्य का वर नहीं चाहती; सिर्फ थोड़े ही दिन के लिए जिससे कि वह अर्जुन के हृदय में स्थान पा सके। उसके पश्चात् वह अपने गुणों से तथा आत्मा के सौन्दर्य से उसे अपने वश में कर लेगी। सौन्दर्य का वर केवल साल भर को मिला। चित्राङ्गदा उसको लेकर अर्जुन से मिलती है। उसका प्रस्ताव स्वीकार

होता है। अर्जुन आत्मसमर्पण कर देता है। फिर वह अर्जुन [हिं. ११२ को उसकी झूठी वीरता और गर्व के लिए उलाहना देती है—

पार्थ ! धिक धिक है, मैं कौन हूँ ?
मेरे पास क्या है ? देख तुमने लिया है क्या ?
मुझको क्या जानते हो ? किसके लिए अहो !
अपने को भूलते हो। हाय ! क्षण भर में
सत्य भङ्ग करके यों अर्जुन को आप ही
करते अनर्जुन हो आह ! किसके लिए ?
मेरे लिए नहीं।
मैं नहीं हूँ, मैं नहीं हूँ, हाय ! पार्थ, हाय रे !
माया किसी देव की है ! जाओ तुम लौट के,
जाओ, वीर, मत करो मिथ्या की उपासना।

फिर दुबारा मिलने पर अर्जुन और चित्राङ्गदा का विवाह हो जाता है।

चित्राङ्गदा जानती थी कि उसका सौंदर्य चिरस्थायी नहीं है। यदि अर्जुन केवल उसी के लिए आकर्षित हुआ हो तो उसके नष्ट होने पर वह तिरस्कृत होगी। चित्राङ्गदा ने अर्जुन को सचेत कर दिया था कि रूप मायाजाल है किन्तु न तो चित्राङ्गदा ही नितान्त गुणहीन थी और न अर्जुन ही ऐसा था, जिसकी आत्मा में गुणों के लिए स्थान न हो। उसको यह तो नहीं मालूम था कि जिस रमणी से उसका विवाह हुआ था, वह चित्राङ्गदा है किन्तु उसके गुणों की; उसकी प्रजावत्सलता की प्रशंसा उसने वहाँ के लोगों से सुन रक्खी थी। अर्जुन वीर था और उसके हृदय में इन गुणों के लिए स्थान था। जब साल भर बीत जाता है; देवताओं से माँगा हुआ बाह्य सौन्दर्य का वरदान वापस हो जाता है, तब चित्राङ्गदा अपने अकृत्रिम रूप में अर्जुन के सामने आती है और अपना परिचय देती है। देखिए—

सुन्दर स्वरूप एक वर्ष भर के लिए
हृदय किया था कर भ्रान्त वीरवर का,
माया-महिमा से। मैं परन्तु नहीं वह भी।
चित्राङ्गदा हूँ मैं। न मैं देवी हूँ न रमणी—
साधारण। पूजा कर शीश में चढ़ाओगे,
सो भी मैं नहीं हूँ; अवहेलना से रक्खोगे
पीछे—पालितों में, वह भी मैं नहीं। पार्श्व में
रक्खो मुझको सदा संकट के मार्ग में,

अंश यदि दो दुरूह चिन्ता का, सहायता
कठिन तुम्हारे व्रत की जो करने की दो
आज्ञा, मुझे दुख-सुख की जो करो सङ्गिनी
जानोगे मुझे तो—

नारीत्व और पत्नीत्व का कैसा सुन्दर आदर्श है ! न वह शीश पर रखने की वस्तु और न पालितों में समझी जाने वाली वस्तु है। वह है सुख-दुःख की संगिनी चिन्ताओं का भार लेने वाली, व्रत में सहायता करने वाली। अर्जुन मायाजाल से रहित और आत्मबल तथा आन्तरिक सौन्दर्य से पूर्ण सहधर्मिणी पाकर अपने को धन्य समझता है। वह कहता है—

प्रिये ! धन्य हूँ मैं, धन्य भाग आज मेरा है।

चित्राङ्गदा ने सौन्दर्य के बल से अर्जुन के हृदय में प्रवेश किया किन्तु अपने गुणों से उस पर चिरस्थायी प्रभुत्व स्थापित कर अपने को तथा अर्जुन को धन्य बनाया।

चन्द्रगुप्त का तुलनात्मक अध्ययन

चन्द्रगुप्त का नाम भारतीय इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। विदेशियों द्वारा लिखे हुए इतिहास में भी हम चन्द्रगुप्त का नाम सर ऊँचा करके पढ़ सकते हैं। चन्द्रगुप्त का नाटकरूप में वर्णन विशाखदत्त ने अपने मुद्राराक्षस में किया है। आजकल भी चन्द्रगुप्त के नाम से दो नाटक निकले हैं किन्तु इनमे और मुद्राराक्षस में अन्तर है। उस नाटक मे चन्द्रगुप्त चाणक्य के हाथ मे कठपुतली मात्र है। वह नाटक चाणक्य और राक्षस के राजनीतिक घातप्रतिघात का खेल है। उसमे दो स्वामि-भक्त खिलाडियों की शतरंज की चालें हैं। काठ की गोटों के स्थान में जीते-जागते पात्र हैं, जिनमें प्रधान चन्द्रगुप्त है। नाटक के आरम्भ से ही चन्द्रगुप्त मगधसिंहासन पर है। राक्षस अपने स्वामी नन्द का पक्ष लेते हुए चन्द्रगुप्त के स्थान में किसी दूसरे को राजपद पर स्थापित करना चाहता है। चाणक्य चन्द्रगुप्त की रक्षा करता है। राक्षस अपनी स्वामि-भक्ति में अटल रहता है। चाणक्य राक्षस की बुद्धि और स्वामि-भक्ति का लोहा मानते हुए चन्द्रगुप्त के हित मे यही चाहता है कि राक्षस उसका मंत्रिपद स्वीकार कर ले। चाणक्य की सारी चालों का यही फल होता है कि राक्षस मन्त्रित्व स्वीकार करने के लिए बाध्य हो जाता है। यही इस नाटक की फलसिद्धि है। इसमे केवल बल, बुद्धि और कूटनीति का

चमत्कार है। इस नाटक की कथावस्तु भी काफ़ी पेचीदा है। इसमे
कोमल भावों के लिए स्थान नहीं है । शृङ्गार का नितान्त अभाव है। चन्दनदास और राक्षस का सख्य तथा दोनों मंत्रियों की स्वामि-भक्ति दर्शनीय है। इस नाटक में चन्द्रगुप्त को मुरापुत्र ही माना गया है।

चन्द्रगुप्त को ही लेकर आधुनिक युग के दो भिन्न-भिन्न प्रान्तों के महान् कलाकारों ने, जिनमे एक हैं बङ्गाल के द्विजेन्द्रलाल राय और दूसरे बनारस के जयशंकरप्रसाद, नाटक लिखकर अपनी अपनी भाषा का गौरव बढ़ाया है। इन दोनों नाटकों का दृष्टिकोण मुद्राराक्षस से भिन्न है। इन दोनों में चन्द्रगुप्त अपने गुरुदेव चाणक्य के अतिरिक्त अपना कुछ व्यक्तित्व रखते हैं (एक स्थान मे मुद्राराक्षस में भी चन्द्रगुप्त ने अपना व्यक्तित्व दिखलाया है किन्तु वह चाणक्य की मंत्रणा से) और अपने पौरुष के साथ अपना साम्राज्य स्थापित करते हैं। दोनों ही नाटकों ने यूनानी सेनापति सेल्यूकस की दुहिता से चन्द्रगुप्त का विवाह कराया है । राय महोदय ने उसका नाम हैलेन रक्खा। प्रसादजी ने उसका नाम कोर्नीलिया रक्खा है। इन दोनों नाटकों में मन्त्रियों की चोट नहीं है वरन् चाणक्य और अरस्तू की चोट है अथवा दूसरे शब्दों मे भारत और यूनान की सभ्यताओं की चोट है। दोनों मे ही विवाह-सम्बन्ध द्वारा भारत और यूनान में सन्धि स्थापित होती है।

उपयुक्त बातों में समानता होते हुए भी बहुत सी बातों में भेद है। वास्तव में तुलना के लिए समान वस्तुएँ ही तराजू के पलड़े मे रक्खी जाती हैं। प्रान्तीय साहित्यों मे ऐसे तुलनात्मक अध्ययन का कम अवसर मिलता है क्योंकि दो भिन्न कलाकार एक ही विषय पर कम लिखते हैं। पहले यह बतला देना आवश्यक है कि राय महोदय ने मुग़लकालीन भारत के चित्रण मे विशेषता प्राप्त की है और प्रसादजी की प्रतिभा मध्यकालीन भारत के चित्रण में अधिक प्रस्फुटित हुई है।

यद्यपि राय महोदय की पुस्तक पहले की है तथापि प्रसादजी की पुस्तक उसका अनुकरण नहीं कही जा सकती है । दोनों नाटकों मे चन्द्रगुप्त के जन्म के सम्बन्ध मे भेद है। राय महोदय ने विशाखदत्त के साथ सहमत होते हुए चन्द्रगुप्त को नन्द की दासी मुरा शूद्रा का पुत्र माना है और प्रसादजी ने अपने नायक को मौर्य क्षत्रिय सेना-नायक का पुत्र माना है। बौद्ध इतिहासकार भी ऐसा ही मानते हैं। राय महोदय ने चन्द्रगुप्त को मुरा का पुत्र मानकर नाटक मे शूद्र माता का स्वाभिमान दिखलाने

 का अच्छा अवसर पाया है। इस सम्बन्ध में नन्द और मुरा का वार्तालाप बड़ा आकर्षक है। प्रसादजी ने इस प्रकार के वार्तालाप का मोह छोड़कर बौद्ध लेखकों के साथ सहमत होते हुए प्राचीन शास्त्रकारों के अनुकूल अपने नायक को कुलीन रखना अधिक श्रेयस्कर समझा। जब उसके लिए आधार है तो कुलीन ही क्यों न रक्खा जाय ? इसके अतिरिक्त परिवार के लोगों के मारे जाने में सहायक होना अधिक नृशंसता है। राय महोदय इस बात को स्वीकार करते हुए चन्द्रगुप्त को अर्जुन की भाँति इस कार्य से विचलित भी कराते हैं, अन्त में नन्द को क्षमा भी कराते हैं। यह सब स्वाभाविक है। दोनों ही नाटककारों ने नन्द का वध शकटार के हाथ से कराया है, यह ठीक है। क्योंकि शकटार का ही नन्द से व्यक्तिगत द्वेष था, उसी के सात पुत्र मारे गये थे।

नन्द की हत्या में दोनों ही नाटककार चन्द्रगुप्त को निर्दोष रखते हैं। प्रसादजी ऊपरी तौर से चाणक्य को भी निर्दोष रखते हैं। वह नागरिकों से नन्द के छोड़ दिये जाने का प्रस्ताव करता है किन्तु शकटार सहसा आकर अपना बदला लेने को नन्द की छाती में छुरा भोंक देता है। राय महाशय चाणक्य और मुरा दोनों को ही कात्यायन के साथ नन्द की हत्या में लपेटते हैं। राय महोदय कात्यायन और शकटार को एक ही व्यक्ति मानते हैं किन्तु कात्यायन जैसे व्याकरण के पंडित से वधिक का काम लेना ज़रा अनुचित सा मालूम पड़ता है। इसके अतिरिक्त चन्द्रगुप्त के द्वारा कात्यायन के रोके जाने पर भी मुरा का बीच में आ जाना और आग्रहपूर्वक वध की आज्ञा देना एक रमणी को उच्च भावों से वंचित कर देना है। उसका पीछे से रोना और यह कहना 'मैं तो इसकी रक्षा करने आई थी' चाहे वास्तविक क्यों न हो, विडम्बनामात्र दिखाई पड़ता है। इस सम्बन्ध में इतना कहना आवश्यक है कि राय महाशय ने राज्य-विप्लव के कार्य को एक गृह-युद्ध का रूप दिया है। उन्होंने प्रसादजी की भाँति सब काम एक दिन में नहीं समाप्त किया। राय महाशय ने नन्द को बन्दी कराकर फिर वध कराया है। प्रसादजी ने तुरन्त ही उसका काम तमाम कर दिया है। राय महाशय ने नन्द के लिए कोई रोने वाला नहीं रक्खा। प्रसादजी ने नन्द की पुत्री कल्याणी की सृष्टि की है, जो वास्तव में कल्याणी थी। अपने पिता के कुशासन का विरोध करते हुए भी और चन्द्रगुप्त से प्रेम करते हुए भी उसने पिता के वध होने पर आत्म-हत्या कर ली।

दोनों ही अमात्य माने हैं। राय महोदय ने केवल कात्यायन, जिस का उन्होंने शकटार के साथ तादात्म्य किया है, मंत्री रक्खा है। शकटार को भी मंत्री बनाने का प्रमाण है किन्तु यह नहीं मालूम कि राय महोदय ने शकटार और कात्यायन का किस आधार पर एकीकरण किया है। राय महोदय ने कात्यायन को चाणक्य से मिला दिया है अर्थात् दोनों के ही योग से नन्द का पतन होता है।

चाणक्य और नन्द के वैर में मूल कारण दोनों नाटककारों ने भिन्न-भिन्न आधार पर कात्यायन की साज़िश से कराया है। राय महोदय ने चाणक्य को नन्द के यहाँ पुरोहित-कर्म के लिए आमंत्रित कराकर नन्द के साले वाचाल द्वारा उसका अपमान कराया है। प्रसादजी ने नन्द और चाणक्य का पुराना वैर दिखाया है। नन्द ने चाणक्य के पिता चणक का सर्वस्व हरण कर लिया था। चाणक्य का नन्द की सभा में अपमान हुआ। इस बात ने चाणक्य के वैर-भाव को और भी उग्र बना दिया।

यूनानियों के सम्बन्ध मे राय महोदय चन्द्रगुप्त को भेदिये के रूप में सिकन्दर और सेल्यूकस के साथ स्टेज पर लाते हैं। चन्द्रगुप्त अपने वाक्चातुर्य तथा सिकन्दर की उदारता से कैदी होने से बच जाता है। प्रसादजी इसके पूर्व की भी कथा बतला कर पाठकों को आश्चर्य मे नहीं रखते। राय महाशय सिकन्दर के सामने सेल्यूकस और एन्टेगोनस के साथ वाक्-युद्ध कराते हैं। प्रसादजी के नाटक में एन्टेगोनस का स्थान फिलप्स ले लेता है। प्रसादजी के नाटक में चन्द्रगुप्त सिकन्दर के देखते-देखते अपने बाहुबल से अपने को मुक्तकर भाग जाता है, यह जरा अस्वाभाविक मालूम पडता है। प्रसादजी का चन्द्रगुप्त इस मौके पर बड़ी निर्भयता से बातचीत करता है और सिकन्दर को लुटेरा तक कहने में नहीं चूकता। राय महोदय का चन्द्रगुप्त स्वाभिमान रखते हुए भी परिस्थिति से कुछ डरा हुआ प्रतीत होता है। प्रसादजी का चन्द्रगुप्त सिंह की तरह से निर्भय है। वह सिकन्दर से कहता है—'लूट के लोभ से हत्या-व्यवसायियों को बीच में एकत्रित करके उन्हें वीरसेना कहना रण-कला का उपहास करना है।' आम्भीक के कहने पर कि 'शिष्टता से बातें करो' चन्द्रगुप्त उत्तर देता है कि 'वह भीरु—कायरों की सी वंचक-शिष्टता नहीं जानता।'

राय महोदय ने अपने नाटक में सिकन्दर के ज़ख्मी होने का कोई उल्लेख नहीं किया। प्रसादजी ने

 से वर्णन किया है। इसमें चाहे ब्योरे की भूल हो परन्तु वर्णन भारत के गौरव को बढ़ाने वाला है। इसमें भारतीयों की उदारता का परिचय दिया है।

सेल्यूकस की चढ़ाई के सम्बन्ध में दोनों लेखकों के वर्णन प्रायः एक से ही हैं। इतना ही अन्तर है कि राय महाशय की हैलन विश्व-प्रेम से अधिक प्रेरित है। वह अपने पिता को इस युद्ध के लिए बहुत कुछ रोकती है। यहाँ तक कि कुछ अशिष्टता की भी बातचीत कर बैठती है, यद्यपि पीछे से माफ़ी माँग लेती है।

राय महाशय का चन्द्रगुप्त चाणक्य के चले जाने से कुछ हताश सा हो जाता है। बीच में ऐसी कमजोरी का आ जाना अस्वाभाविक नहीं है। प्रसादजी का चन्द्रगुप्त अविचलित रहता है। प्रसादजी के चन्द्रगुप्त के चरणों में सफलता लोटती सी मालूम पड़ती है। राय महोदय के चन्द्रगुप्त को सफलता कुछ परिश्रम के साथ मिलती है। दोनों ही नाटककारों ने शत्रुसेना मे राक्षस या कात्यायन के रूप में एक भेदिया पहुँचा दिया है। दोनों नाटककारों ने चन्द्रगुप्त और चाणक्य के वैमनस्य हो जाने का वर्णन किया है। दोनों का ही वर्णन विशाखदत्त के आधार पर है। पर ब्योरे मे कुछ भेद है। मुद्राराक्षस द्वारा हमको चन्द्रगुप्त में स्वाभिमान की क्षीण रेखा जागरित होने का पता चलता है किन्तु वह भी चाणक्य की कूटनीति का एक अङ्ग था, जिससे कि राक्षस को यह धोखा हो जाय कि अब चाणक्य इसकी सहायता में नहीं है। मुद्राराक्षस में जिस उत्सव का उल्लेख है, वह वसन्तोत्सव है। इन नवीन नाटकों में स्वयं चन्द्रगुप्त का विजयोत्सव है। इस बात मे—मैं समझता हूँ कि विशाखदत्त ने अधिक बुद्धिमत्ता से काम लिया है। सार्वजनिक उत्सव के बन्द होने से राजा को क्रोध आना स्वाभाविक सा प्रतीत होता है। अपने विजयोत्सव पर भी क्रुद्ध होना कोई अस्वाभाविक नहीं किन्तु उसमे अधिक बड़प्पन नहीं दिखलाई पड़ता। प्रसादजी ने चन्द्रगुप्त के मुख से उसके माता-पिता के रूठ जाने के ऊपर अधिक जोर दिलवाया है। दोनों ही नाटककारों का वर्णन प्रायः एक सा है। दोनों ही में यह दिखलाई पड़ता है कि चन्द्रगुप्त को चाणक्य का नियन्त्रण कुछ अखरता है। राय महोदय ने चन्द्रगुप्त को इतना उत्तेजित कर दिया है कि वह चाणक्य को कैद करने की आज्ञा दे देता है किन्तु चाणक्य के आतंक के कारण उसके रोक लेने पर किसी की हिम्मत नहीं पड़ती कि उसे रोके। गुरुदेव को कैद करने की आज्ञा देना कुछ अनुचित सा लगता

है और राजमद तथा अशिष्टता का परिचय देता है।

उत्सव के रोकने में चाणक्य की बुद्धिमत्ता का परिचय चन्द्रगुप्त को शीघ्र ही लग जाता है, इस बात को दोनों ही नाटककारों ने दिखलाया है और दोनों ही ने विशाखदत्त का आश्रय लिया है। किन्तु अन्तर इतना है कि प्रसादजी ने चन्द्रगुप्त की रक्षा के लिए उसी घटना में मालविका का बलिदान कराया है। इस बलिदान मे त्याग और प्रेम की पराकाष्ठा अवश्य है किन्तु वह बहुत आवश्यक नहीं है। जैसा राय महोदय ने दिखलाया है, वैसे बिना मालविका के बलिदान के ही चन्द्रगुप्त की रक्षा हो सकती थी।

मालविका के बलिदान से इतना लाभ अवश्य हुआ है कि कोर्नीलिया का पथ निष्कंटक हो जाता है और चन्द्रगुप्त तथा राजमाता के लिए यह धर्मसंकट नहीं रहता कि किसके साथ विवाह किया जाय। मालविका यदि जीवित रहती तो कठिन समस्या आती। एक ओर तो मालविका का आत्मबलिदान और प्रेम, दूसरी ओर कोर्नीलिया और चन्द्रगुप्त का परस्पर प्रेम तथा राजनीतिक आवश्यकता। राय महोदय ने छाया और हैलना (जो कि मालविका और कोर्नीलिया के स्थानापन्न हैं) के सम्बन्ध मे इस समस्या को बड़ी सुन्दरता के साथ हल किया है। उन्होंने दोनों ओर से उदारता की पराकाष्ठा दिखलाई है। हैलना के मुख से क्या ही सुन्दर शब्दों मे कहलाया है—'आओ बहिन, हम दोनों नदियॉ एक ही सागर मे जाकर लीन हो जायँ। सूर्य-किरण और, वृष्टि मिलकर मेघ के शरीर मे इन्द्रधनुष की रचना करे।' 'काहे का दुख है। बहिन, एक ही आकाश मे क्या सूर्य और चन्द्र दोनों नहीं उदय होते।' यह समझौता बड़ा सुन्दर और काव्यपूर्ण है किन्तु इसमें दो विवाह का नैतिक प्रश्न रह जाता है और नाटक में जहाँ सभ्यताओं की चोट दिखाई है, वहॉ दो विवाह की प्रथा से देश का नैतिक मान घटाना बहुत सुन्दर नहीं जँचता। अन्त में हम हैलन अथवा कोर्नीलिया और चन्द्रगुप्त के विवाह के सम्बन्ध मे यह अवश्य कहेगे कि राय की हैलन विश्वप्रेम से अधिक प्रेरित है। वह निजी आकर्षण से चन्द्रगुप्त के साथ विवाह करने के लिए इतनी लालायित नहीं, जितनी कि वह दो महान् देशो में संधि-स्थापन के लिए। प्रसादजी की कोर्नीलिया चन्द्रगुप्त की ओर कुछ आकर्षित मालूम पड़ती है और वह इस विवाह को बलिदान नहीं समझती।

 राय महाशय की हैलन विश्वप्रेम के आवेग में थोड़ी देर के लिए पितृ-स्नेह को भूल जाती है, यद्यपि वह पीछे से सुधर जाती है। वह सेल्यूकस की हार पर एक तरह से प्रसन्न होती है। प्रसादजी की कोर्नीलिया में यह बात नहीं। उसमें पिता और पुत्री का सम्बन्ध अपेक्षाकृत अधिक स्वाभाविकता के साथ निभाया गया है। राय महोदय के सेल्यूकस में स्वदेशाभिमान अधिक है। वह हैलन के विवाह के समय राजदरबार में नहीं जाता। प्रसादजी का सेल्यूकस दरबार में जाता है पर कुछ अनिच्छा से।

प्रसादजी चन्द्रगुप्त के मुख से सेल्यूकस को विजेता कहकर सम्बोधित कराते हैं। यह बात शिष्टाचारपूर्ण अवश्य है किन्तु इसमें कुछ व्यङ्ग्य की ध्वनि मालूम पड़ती है, जो ऐसे अवसर पर अनुचित जान पड़ती है।

दोनों ही नाटककारों ने कूटनीति-विशारद, नृशंसहृदय चाणक्य में कुछ कोमलता के भाव दिखलाये हैं। राय ने चाणक्य में अपनी खोई हुई लड़की के प्रति वात्सल्य का भाव, जो नाटक के महत्त्व को बढ़ा देता है, खूब दिखाया है। प्रसादजी ने सुवासिनी के प्रति चाणक्य के हृदय में कोमलता का स्थान रक्खा है किन्तु वह अपने पथ से विचलित नहीं होता और उस का राक्षस से विवाह कराने मे सहायक होता है।

प्रसादजी ने राक्षस का चरित्र अच्छा तो नहीं दिखलाया है। वह नीचता करता है पर उसके प्रति चाणक्य का उदार भाव सब को सुधार लेता है। प्रसादजी का राक्षस विलासी अधिक है, राजनीतिक कम है। प्रसादजी ने भी उसकी मुद्रा से काम लिया। राय महोदय ने उसका कोई उल्लेख नहीं किया।

दोनों नाटकों के अन्तर का सार हम इस प्रकार से कह सकते हैं कि राय महोदय के नाटक में विश्वप्रेम की झलक अधिक है और प्रसादजी के नाटक में देश में संगठन और राष्ट्रीयता के भावों को जागरित करने की गूँज है। संसार में दोनों भाव आवश्यक हैं। इसलिए दोनों ने ही अपनी अपनी वाणी से अपने अपने प्रान्त को अलंकृत किया है और दोनों ही नाटकों से हम अपना पूर्ण मनोरंजन कर सकते हैं।

परिशिष्ट

प्रबोध-चन्द्रोदय

मूल नाटककार—कृष्णमिश्र   अनुवादक—श्रीब्रजवासीदास

रचनाकाल—संवत् १८१६

विवरण—यह भावात्मक नाटक है। इसमें श्रद्धा, विवेक आदि मनोवृत्तियों को पात्र बनाया गया है।

प्रस्तुत उद्धरण में विवेक का काम आदि दुष्प्रवृत्तियों के साथ युद्ध का वर्णन है। इसमें यह भी दिखलाया गया है कि मन के मरने पर ही सुख और शांति मिलती है।

यह पूर्व-हरिश्चन्द्रकाल के नाटकों का अच्छा उदाहरण है। प्रबन्ध-काव्य से इसमें बहुत कम भेद दिखलाई पड़ता है। इसमें वर्णन और कथोपकथन मिला हुआ है।

दोहा—जब ही वस्तु विचार ने मारयो काम प्रचार*।
तब ही सैन विवेक की जै जै उठी पुकार ॥

भुजंगप्रयात—

सुनत क्रोध उततें चल्यौ क्रोध भरिकै, अगिन पुञ्ज मानो बड़ो रूप धरिकै।
लियौ संग हिंसा भयानक विशाला, विपुल अस्त्रधारी मनो तासु ज्वाला ॥
झपटकै लपट ज्यौं दपटि धाव सूखो, महा धूम सेती करक आय रूधो।
भई रैन दिन की भयो अन्धकारा, न सूझै तहाँ हाथ अपनो पसारा ॥
न जाने परे अपने को परारे, न सूझै जहाँ सो तहाँ त्रास मारे।
कितेकौं गए जरि अगिन क्रोध माहे, वियाकुल कहै सब कहा होन चाहे ॥

सोरठा—तब इत छमा अगाह सीतल जल सारस मनो।
कोमल वचनप्रवाह परयो क्रोध पर जाय कै ॥
पल में ताहि बुझाय कारो मुख ताको कियौ।
बहुरो दियौ बहाय ताको खोज रह्यौ नहीं ॥

चौपाई—बहुरि लोभ धरि रूप विशाला, तृष्णा संग महा विकराला।
गिरकंदर सम बदन पसारी, उदर तड़ाग मनो जल वारी ॥
अहि विशाल सम भुज भयदाता, कुम्भकरन मनो रावन भ्राता।

---

* ललकारकर।

 सन्मुख आय बाहु विस्तारी, लिये लपेट सबै इक बारी ॥
समुझि परी ऐसी तेहि काला, भयौ लोभ अब सब को काला।

श्री हरिभक्ति उवाच—

चौपाई—कह्यौ भक्ति यह भलो न कीन्हा, जियत मोह को जान जु दीन्हा।
जब लग प्राण मोह तन माहीं, तब लग होति सुचितई नाहीं॥
जो सरदार बचै रण माहीं, सैन जुरत पुनि औघट नाहीं।
अलप काल महँ पुनि दल जोरी, अरि सन करै न गई बहोरी॥

दोहा—विष्णु भक्ति पूछो बहुरि कहु सरधा एहि काल।
मोह पराजै को सुन्यौ मन को कहा हवाल॥

सरधा उवाच—कुसुम विचित्रा

सरधा कही अहै सुख दान। मन की दसा न परत बखान॥
प्रवृत्ती नाम ताकी वर नार। मन को तासो अधिक पियार॥
सो कायादिक बध सुनि कान। सुनत सनेह तजे तिन प्रान॥
ताते मनहिं सोक अधिकाय। चाहिय अब मनहू मरि जाय॥

भक्ति उवाच—

होवै याते भलो पुनि कहा जु मन मरि जाय।
सकल काज बिन श्रमहि मम तौ सहजहि बन जाय॥
अरु मनहू बहु कष्ट तें छूट लहै निज रूप।
लीन होय सुख ब्रह्म में जो सब भाँति अनूप॥

भारत-दुर्दशा

लेखक—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र रचनाकाल—सं० १९३३

विवरण—प्रस्तुत अवतरण भारतदुर्दशा नाटक से दिये जा रहे हैं। इस नाटक में स्वयं भारतवर्ष को नायक बनाया गया है और भारतदुर्दैव इसका प्रतिनायक है।

भारतदुर्दैव ने भारत का नाश करने के लिए उसके साथ युद्ध छेड़ा है। सत्यानाश, रोग, आलस्य, मदिरा, अंधकार आदि उसके सहायक सेनानायक हैं।

भारत-भाग्य भारत के उद्धार की चेष्टा करता है। भारतदुर्दैव का उसके फौजदार के साथ वार्तालाप दिया जाता है। इसके पश्चात् भारत के उद्धार के जो उपाय सोचे जाते हैं, वे बतलाये जाते हैं। भारत-भाग्य भारत को जगाना चाहता है। उसके न जागने पर भारत-भाग्य ने जो

विलाप किया है वह भी दिया गया है।

स्थान—मैदान

(फौज के डेरे दिखाई पड़ते हैं। भारतदुर्दैव* आता है)

भारतदु०—कहाँ गया भारत मूर्ख ? जिसको अब भी परमेश्वर और राज-राजेश्वरी का भरोसा है। देखो तो अभी इसकी क्या-क्या दुर्दशा होती है।

(नाचता और गाता हुआ)

अरे! उपजा ईश्वर कोप से, औ आया भारत बीच।
छार-खार सब हिन्द करूँ मैं, तो उत्तम नहिं नीच॥
मुझे तुम सहज न जानो जी, मुझे इक राक्षस मानो जी॥
कौड़ी-कौड़ी को करूँ, मैं सब को मुहताज।
भूखे प्रान निकालूँ इनका, तो मैं सच्चा राज॥ मुझे०
काल भी लाऊँ, महँगी लाऊँ, और बुलाऊँ रोग।
पानी उलटा कर बरसाऊँ, छाऊँ जग में सोग॥ मुझे०
फूट-बैर औ कलह बुलाऊँ, ल्याऊँ सुस्ती जोर।
घर-घर में आलस फैलाऊँ, छाऊँ दुख घनघोर॥ मुझे०
काफिर काला नीच पुकारूँ, तोड़ूँ पैर औ हाथ।
दूँ इनको संतोष खुशामद, कायरता भी साथ॥ मुझे०
मरी बुलाऊँ, देश उजाड़ूँ, महँगा करके अन्न।
सब के ऊपर टिकस लगाऊँ, धन है मुझको धन्न॥
मुझे तुम सहज न जानो जी, मुझे इक राक्षस मानो जी। (नाचता है)

अब भारत कहाँ जाता है ? ले लिया है। एक तस्सा बाकी है, अब के हाथ में वह भी साफ है। भला, हमारे बिना और ऐसा कौन कर सकता है कि अँगरेजी अमलदारी में भी हिन्दू न सुधरे। लिया भी तो अँगरेजों से औगुन। हा हा हा। कुछ पढ़े-लिखे मिलकर देश सुधारा चाहते हैं। हा हा हा हा। एक चने से भाड़ फोड़ेंगे। ऐसे लोगों का दमन करने को मैं जिले के हाकिमों को न हुक्म दूँगा कि इनको डिसलायल्टी में पकड़ो और ऐसे लोगों को हर तरह से खारिज करके जितना जो बड़ा मेरा मित्र हो, उसको उतना बड़ा मेडल और खिताब दो। हैं। हमारी पालिसी के विरुद्ध उद्योग करते हैं, मूर्ख। यह क्यों ? मैं अपनी फौज ही भेज के न सब चौपट करता हूँ। (नेपथ्य की ओर देखकर) अरे! कोई है ? सत्यानाश फौजदार को तो भेजो। (नेपथ्य में से 'जो आज्ञा' का शब्द सुन

---

* क्रूर, आधा क्रिस्तानी आधा मुसलमानी भेष, हाथ में नंगी तलवार लिये।

 पड़ता है) देखो, मैं क्या करता हूँ। किधर-किधर भागेंगे।

(सत्यानाश फौजदार आते हैं। नाचता हुआ)

सत्या० फौ०—हमारा नाम है सत्यानास। आए हैं राजा के हम पास ॥
धर के हम लाखों ही भेस। किया चौपट यह सारा देस ॥
बहुत हमने फैलाये धर्म्म। बढ़ाया छुआछूत का कर्म्म ॥
होके जयचंद हमने इकबार। खोल ही दिया हिन्द का द्वार ॥
हलाकू चंगेजो तैमूर। हमारे अदना-अदना सूर ॥
दुरानी अहमद नादिरसाह। फौज के मेरे तुच्छ सिपाह ॥
हैं हममें तीनों कलबेलछल। इसी से कुछ नहिं सकती चल ॥
पिलावेंगे हम-खूब शराब। करेंगे सब को आज खराब ॥

भारतदु०—अहा सत्यानाश जी आए। आओ, देखो अभी फ़ौज को हुक्म दो कि सब लोग मिलके चारों ओर से हिन्दुस्तान को घेर लें। जो पहिले से घेरे हैं, उनके सिवा औरों को भी आज्ञा दो कि बढ़ चलें।

सत्या० फौ०—महाराज! 'इन्द्रजीत सन जो कछु भाखा, सो सब जनु, पहिलहिं करि राखा।' जिनको आज्ञा हो चुकी है, वे तो अपना काम कर ही चुके और जिसको जो हुक्म हो, कह दिया जाय।

भारतदु०—किस-किस ने क्या-क्या किया है?

सत्या० फौ०—महाराज! धर्म्म ने सबके पहिले सेवा की ॥
रचि बहु विधि के वाक्य पुरानन माँहि घुसाये।
शैव शाक्त वैष्णव अनेक मत प्रगटि चलाये ॥
जाति अनेकन करी नीच अरु ऊँच बनायो।
खान-पान संबंध सबनसों बरजि छुड़ायो ॥
जन्मपत्र विधि मिले ब्याह नहिं होन देत अब।
बालकपन में ब्याहि प्रीति-बल नास कियो सब ॥
करि कुलीन के बहुत ब्याह बल बीरज मारयो।
विधवा-ब्याह निषेध कियो विभिचार प्रचारयो ॥
रोकि विलायत-गमन कूपमंडूक बनायो।
औरन को संसर्ग छुड़ाइ प्रचार घटायो ॥
बहु देवी देवता भूत प्रेतादि पुजाई।
ईश्वर सों सब विमुख किए हिन्दू घबराई ॥

भारतदु०—आ हा हा हा! शाबाश, शाबाश। हाँ, और भी कुछ धर्म्म?

सत्या० फौ०—हाँ, महाराज।

अपरस सोल्हा छूत रचि, भोजन-प्रीति छुड़ाय।
किए तीन तेरह सबै, चौका चौका लाय॥

भारतदु०—और भी कुछ ?

सत्या० फौ०—हाँ,

रचिकै मत वेदान्त को, सब को ब्रह्म बनाय।
हिंदुन पुरुषोत्तम कियो, तोरि हाथ अरु पाय॥

महाराज, वेदान्त ने बड़ा ही उपकार किया। सब हिन्दू ब्रह्म हो गये। किसी को इतिकर्त्तव्यता बाकी ही न रही। ज्ञानी बनकर ईश्वर से विमुख हुए और रूक्ष हुए, अभिमानी हुए और इसी से स्नेहशून्य हो गये। जब स्नेह ही नहीं तब, देशोद्धार का प्रयत्न कहाँ ? बस, जय शंकर की।

भारतदु०—अच्छा, और किसने किसने क्या किया ?

सत्या० फौ०—महाराज फिर संतोष ने भी बड़ा काम किया। राजा-प्रजा सब को अपना चेला बना लिया। अब हिन्दुओं को खाने मात्र से काम, देश से कुछ काम नहीं। राज न रहा, पेनशन ही सही। रोजगार न रहा, सूद ही सही। वह भी नहीं, तो घर ही का सही। 'संतोषं परमं सुखम्'। रोटी ही को सराह-सराह के खाते हैं। उद्यम की ओर देखते ही नहीं। निरुद्यमता ने भी संतोष को बड़ी सहायता दी। इन दोनों को बहादुरी का मेडल जरूर मिलै। व्यापार को इन्हीं ने मार गिराया।

भारतदु०—और किसने क्या किया ?

सत्या० फौ०—फिर महाराज! जो धन की सेना बची थी, उसको जीतने को भी मैंने बड़े बाँके वीर भेजे। अपव्यय, अदालत, फैशन और सिफारिश, इन चारों ने सारी दुशमन की फौज तितर-बितर कर दी। अपव्यय ने खूब लूट मचाई। अदालत ने भी अच्छे हाथ साफ किये। फैशन ने तो बिल और टोटल के इतने गोले मारे कि अंटाधार कर दिया और सिफारिश ने भी खूब ही छकाया। पूरब से पच्छिम और पच्छिम से पूरब तक पीछा करके खूब भगाया। तुहफे, घूस और चंदे के ऐसे बम के गोले चलाये कि 'बम बोल गई बाबा की चारों दिशा' धूम निकल पड़ी। मोटा भाई बना-बनाकर मूड़ लिया। एक तो खुद ही यह सब पड़िया के ताऊ! उस पर चुटकी बजी, खुशामद हुई, डर दिखाया गया, बराबरी का झगड़ा उठा, धायँ-धायँ गिनी गई,*वर्णमाला कण्ठ कराई†। बस, हाथी के खाये कैत हो

---

* सलामी मिली। † सी० आई० ई० आदि उपाधियाँ मिलीं।

 गये। धन की सेना ऐसी भागी कि कब्रों में भी न बची। समुद्र के पार ही शरण मिली।

भारतदु०—और भला, कुछ लोग छिपाकर भी दुश्मनों की ओर भेजे थे?

सत्या० फौ०—हाँ, सुनिए—फूट, डाह, लोभ, भय, उपेक्षा, स्वार्थपरता, पक्षपात, हठ, शोक, अश्रुमार्जन और निर्बलता, इन एक दर्जन दूती और दूतों को शत्रुओं की फौज में हिल-मिलाकर ऐसा पंचामृत बनाया कि सारे शत्रु बिना मारे घंटा पर के गरुड़ हो गये। फिर अंत में भिन्नता गई। इसने ऐसा सबको काई की तरह फाड़ा कि भाषा, धर्म, चाल, व्यवहार, खाना, पीना सब एक योजन पर अलग २ कर दिया। अब आवें बचा ऐक्य! देखें आ ही के क्या करते हैं?

भारतदु०—भला, भारत का शस्य नामक फौजदार अभी जीता है कि मर गया? उसकी पलटन कैसी है?

सत्या० फौ०—महाराज! उसका बल तो आपकी अतिवृष्टि और अनावृष्टि नामक फ़ौजों ने बिलकुल तोड़ दिया। लाही, कीड़े, टिड्डी और पाला इत्यादि सिपाहियों ने खूब ही सहायता की। बीच में नील ने भी नील बनकर अच्छा लंकादहन किया।

भारतदु०—वाह! वाह! बड़े आनंद की बात सुनाई। तो अच्छा, तुम जाओ। कुछ परवाह नहीं। अब ले लिया है। बाकी-साकी अभी सपराये डालता हूँ। अब भारत कहाँ जाता है। तुम होशियार रहना और रोग, महार्घ, कर, मद्य, आलस और अन्धकार को जरा क्रम से मेरे पास भेज दो।

सत्या० फौ०—जो आज्ञा। (जाता है)

भारतदु०—अब इसको कहीं शरण न मिलेगी। धन, बल और विद्या तीनों गईं। अब किसके बल कूदेगा? (यवनिका गिरती है)

स्थान—किताबखाना

(सात सभ्यों की एक छोटी सी कमेटी; सभापति चक्करदार टोपी पहने चश्मा लगाये, छड़ी लिये, छः सभ्यों में एक बंगाली, एक महाराष्ट्र, एक अख़बार हाथ में लिये एडिटर, एक कवि और दो देशी महाशय)

सभापति—(खड़े होकर) सभ्यगण! आज की कमेटी का मुख्य उद्देश्य यह है कि भारतदुर्दैव की, सुना है कि, हम लोगों पर चढ़ाई है। इस हेतु आप लोगों को उचित है कि मिलकर ऐसा उपाय सोचिए, जिससे हम लोग इस भावी आपत्ति से बचें। जहाँ तक हो सके, अपने देश की रक्षा करना ही हम लोगों का मुख्य धर्म है। आशा है कि आप सब लोग अपनी-अपनी अनुमति

 करेंगे (बैठ गये। करतलध्वनि)

बंगाली—(खड़े होकर) सभापति साहब जो बात बोला, बहुत ठीक
है। इसका पेश्तर कि भारतदुर्दैव हम लोगों का शिर पर आ पड़े, कोई उसके परिहार का उपाय शोचना अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु प्रश्न एई है, जे हम लोग उसका दमन करने शाकता कि हमारा बीर्ज्जोबल के बाहर का बात है। क्यों नहीं शाकता ? अलबत्त शकेगा, परन्तु जो शब लोग एकमत होगा। (करतलध्वनि) देखो हमारा बंगाल में इसका अनेक उपाय साधन होते हैं। ब्रिटिश इण्डियन असोसिएशन लोग इत्यादि अनेक शभा भी होते हैं। कोई थोड़ा बी बात होता, हम लोग मिल के बड़ा गोल करते। गवर्नमेंट तो केवल गोलमाल शे भय खाता। और कोई तरह नहीं शोन्ता। ओ हुआँ का अखबारवाला सब एक बार ऐसा शोर करता कि गवर्नमेंट को अलबत्त शुनने होता। किन्तु हेंयाँ हम देखते हैं, कोई कुछ नहीं बोलता। आज सब आप सभ्य लोग एकत्र हैं। कुछ उपाय इसका अवश्य शोचना चाहिए। (उपवेशन)

प० देशी—(धीरे से) यहीं। मगर जब तक कमेटी में है, तभी तक। बाहर निकले कि फिर कुछ नहीं।

दू० देशी—(धीरे से) क्यों भाई साहब, कमिश्नर इस कमेटी में आने से हमारा नाम तो दरबार से खारिज न कर देंगे ?

एडिटर—(खड़े होकर) हम अपने प्राणपण से भारतदुर्दैव को हटाने को तयार हैं। हमने पहिले भी इस विषय में एक बार अपने पत्र में लिखा था परन्तु यहाँ तो कोई सुनता ही नहीं। अब जब सिर पर आफत आई तो आप लोग उपाय सोचने लगे। भला, अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है। जो कुछ सोचना हो, जल्दी सोचिए (उपवेशन)।

कवि—(खड़े होकर) मुहम्मदशाह से भाँड़ों ने दुश्मन की फौज से बचने का एक बहुत उत्तम उपाय कहा था। उन्होंने बतलाया कि नादिरशाह के मुकाबले में फौज न भेजी जाय। जमना-किनारे कनात खड़ी कर दी जायँ, कुछ लोग चूड़ी पहिन कनात के पीछे खड़े रहें। जब फौज इस पार उतरने लगे, कनात के बाहर हाथ निकाल कर उँगली चमकाकर कहें। 'मुए, इधर न आइयो। इधर जनाने हैं'। बस, सब दुश्मन हट जायँगे। यही उपाय भारतदुर्दैव से बचने को क्यों न किया जाय ?

बंगाली—(खड़े होकर) अलबत्त, यह भी एक उपाय है किन्तु असभ्य-गण आकर जो स्त्री लोगों का विचार न करके सहसा कनात को आक्रमण करेगा तो ? (उपवेशन)

 एडिटर—(खड़े होकर) हमने एक दूसरा उपाय सोचा है। एजूकेशन की एक सेना बनाई जाय। कमेटी की फ़ौज। अखबारों के शस्त्र और स्पीचों के गोले मारे जायँ। आप लोग क्या कहते हैं ? (उपवेशन)

दू० देशी—मगर जो हाकिम लोग इससे नाराज हों तो ? (उपवेशन)

बंगाली—हाकिम लोग काहे को नाराज़ होगा ? हम लोग शदा चाहता कि अँगरेजों का राज्य उत्सन्न न हो। हम लोग केवल अपना बचाव करता। (उपवेशन)

महा०—परन्तु इसके पूर्व यह होना अवश्य है कि गुप्त रीति से यह बात जानना कि हाकिम लोग भारतदुर्दैव की सैन्य से मिल तो नहीं जायँगे।

दू० देशी—इस बात पर बहस करना ठीक नहीं। नाहक कहीं लेने के देने न पड़ें, अपना काम देखिए। (उपवेशन और आप ही आप) हाँ, नहीं तो अभी कल ही झाड़बाज़ी होय।

महा०—तो सार्वजनिक सभा का स्थापन करना, कपड़ा बीनने की कल मँगानी, हिन्दुस्तानी कपड़ा पहिनना, यह भी सब उपाय हैं।

दू० देशी—(धीरे से) बनात छोड़कर गजी पहिरेंगे। हें हें।

एडि०—परन्तु अब समय बहुत थोड़ा है। जल्दी उपाय सोचना चाहिए।

कवि०—अच्छा तो एक उपाय यह सोचो कि सब हिन्दू-मात्र अपना फ़ैशन छोड़कर कोट, पतलून इत्यादि पहिरें; जिसमें जब दुर्दैव की फौज आवे तो हम लोगों को यूरोपियन जानकर छोड़ दे।

प० देशी०—पर रंग गोरा कहाँ से लावेंगे ?

बंगाली—हमारा देश में 'भारत-उद्धार' नामक एक नाटक बना है। उसमें अँग्रेजों को निकाल देने का जो उपाय लिखा, सोई हम लोग दुर्दैव का वास्ते काहे न अवलंबन करें। ओ लिखता पाँच, जन बंगाली मिलकर अँग्रेजों को निकाल देगा। उसमें एक तो पिशान लेकर स्वेज का नहर पाट देगा। दूसरा बाँस काट-काटके पिचरी नामक जलजंत्र विशेष बनावेगा। तीसरा उस जलजंत्र से अंग्रेजों की आँख में धूर और पानी डालेगा।

महा०—नहीं, नहीं। इस व्यर्थ की बात से क्या होता है ? ऐसा उपाय करना, जिससे फलसिद्धि हो।

प० देशी—(आप ही आप) हाय यह कोई नहीं करता कि सब लोग मिलकर एकचित्त हो विद्या की उन्नति करो, कला सीखो, जिससे वास्तविक कुछ उन्नति हो। क्रमशः सब कुछ हो जायगा।

एडि०—आप लोग नाहक इतना सोच करते हैं। हम ऐसे ऐसे आर्टीकिल ...ें कि उसके देखते ही दुर्दैव भागेगा।

कवि०—और हम ऐसी ही ऐसी कविता करेंगे।

प० देशी—पर उनके पढ़ने का और समझने का अभी संस्कार किसको है?

(नेपथ्य में से) भागना मत। अभी मैं आती हूँ।

(सब डरकर चौकन्ने से होकर इधर-उधर देखते हैं)

दू० देशी—(बहुत डरकर) बाबा रे जब हम कमेटी में चले थे, तब पहिले ही छींक हुई थी। अब क्या करें? (टेबुल के नीचे छिपने का उद्योग करता है)

(डिसलायल्टी* का प्रवेश)

सभापति—(आगे से आकर बड़े शिष्टाचार से) आप यहाँ क्यों तशरीफ लाई हैं? कुछ हम लोग सरकार के विरुद्ध किसी प्रकार की सम्मति करने को नहीं एकत्र हुए हैं। हम लोग अपने देश की भलाई करने को एकत्र हुए हैं।

डिसलायल्टी—नहीं, नहीं। तुम सब सरकार के विरुद्ध एकत्र हुए हो। हम तुमको पकड़ेंगे।

बंगाली—(आगे बढ़कर क्रोध से) काहे को पकड़ेगा? कानून कोई वस्तु नहीं है? सरकार के विरुद्ध कौन बात हम लोग बोला? व्यर्थ की विभीषिका!

डिस०—हम क्या करें? गवर्नमेंट की पौलिसी यही है। 'कविवचनसुधा' नामक पत्र में गवर्नमेंट के विरुद्ध कौन बात थी? फिर क्यों उसके पकड़ने को हम भेजे गए? हम लाचार हैं।

दू० देशी—(टेबुल के नीचे से रोकर) हम नहीं, हम नहीं। हम तमाशा देखने आये थे।

महा०—हाय हाय! यहाँ के लोग बड़े भीरु और कापुरुष हैं। इसमें भय की कौन बात है! क़ानूनी है।

सभा०—तो पकड़ने का आपको किस कानून से अधिकार है?

डिस०—इंगलिश पालसी नामक एक्ट के हाकिमेच्छा नामक दफा से।

महा०—परन्तु तुम?

दू० देशी—(रोकर) हाय हाय! भटवा! तुम कहता है, अब मरे।

महा०—पकड़ नहीं सकतीं? तुमको भी दो हाथ दो पैर हैं। चलो, हम लोग तुम्हारे संग चलते हैं। सवाल जवाब करेंगे।

बंगाली—हाँ चलो, ओ का बात—पकड़ने नहीं शेकता।

सभा०—(स्वगत) चेयरमैन होने से पहिले हमी को उत्तर देना

---

* पुलिस की वर्दी पहने।

 पड़ैगा। इसी से किसी बात में हम अगुआ नहीं होते।

डिस०—अच्छा चलो। (सब चलने की चेष्टा करते हैं)

छठा दृश्य

स्थान—गंभीर बन का मध्यभाग

(भारत एक वृक्ष के नीचे अचेत पड़ा है)

(भारतभाग्य का प्रवेश)

भारतभाग्य—(गाता हुआ—राग चैती गौरी)

जागो जागो रे भाई!
सोअत निसि वैस गँवाई। जागो जागो रे भाई!
निसि की कौन कहै बीत्यौ कालराति चल आई॥
देखि परत नहि हित-अनहित कछु परे वैरि-वस जाई।
निज उद्धार पथ नहिं सूझत सीस धुनत पछिताई॥
अबहूं चेति, पकरि राखो किन जो कछु बची बड़ाई।
फिर पछिताए कछु नहिं ह्वैहै रहि जैहौ मुंह बाई॥
जागो जागो रे भाई!

(भारत को फिर उठाने की अनेक चेष्टा करके उपाय निष्फल होने पर रोकर)

हा! भारतवर्ष को ऐसी मोहनिद्रा ने घेरा है कि अब इसके उठने की आशा नहीं। सच है, जो जान-बूझकर सोता है, उसे कौन जगा सकेगा? हा दैव! तेरे विचित्र चरित्र हैं। जो कल राज करता था, वह आज जूते में टाँका उधार लगवाता है। कल जो हाथी पर सवार फिरते थे आज नंगे पाँव बन-बन की धूली उड़ाते फिरते हैं। कल जिनके घर लड़के-लड़कियों के कोलाहल से कान नहीं दिया जाता था, आज उनका नामलेवा और पानीदेवा कोई नहीं बचा और कल जो घर अन धन पूत लक्ष्मी हर तरह भरे-पूरे थे, आज उन घरों में तूने दिया बालने वाला भी नहीं छोड़ा।

हा! जिस भारतवर्ष का सिर व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, पाणिनि, शाक्यसिंह, बाण और भट्ट प्रभृति कवियों के नाममात्र से अब भी सारे संसार से ऊँची है, उस भारत की यह दुर्दशा! जिस भारतवर्ष के राजा चन्द्रगुप्त और अशोक का शासन रूम-रूस तक माना जाता था, उस भारत की यह दुर्दशा! जिस भारत में राम, युधिष्ठिर, नल, हरिश्चन्द्र, रंतिदेव, शिवि इत्यादि पवित्र चरित्र के लोग हो गये हैं उसकी यह दशा! हाय, भारत भैया! उठो। देखो, विद्या का [illegible] है। अब सोने का समय नहीं है। अंगरेज

का राज्य पाकर भी न जागे तो कब जागोगे? मूर्खों के प्रचंड शासन के दिन
गये, अब राजा ने प्रजा का स्वत्व पहिचाना। विद्या की चरचा फैल चली, सब को सब कुछ कहने सुनने का अधिकार मिला, देश-विदेश से नई नई विद्या और कारीगरी आई। तुमको उस पर भी वही, सीधी बातें, भांग के गोले, ग्रामगीत, वही बाल-विवाह, भूतप्रेत की पूजा, जन्मपत्री की विधि! वही थोड़े में संतोष, गप हाँकने में प्रीति और सत्यानाशी चालें! हाय अब भी भारत की यह दुर्दशा! अरे! अब क्या चिता पर सम्हलेगा? भारत भाई! उठो। देखो, अब यह दुख नहीं सहा जाता। अरे! कब तक बेसुध रहोगे? उठो। देखो, तुम्हारी संतानों का नाश हो गया। छिन्न-भिन्न होकर सब नरक की यातना भोगते हैं। उस पर भी नहीं चेतते। हाय! मुझसे तो अब यह दशा, नहीं देखी जाती। प्यारे! जागो। (जगाकर और नाड़ी देखकर) हाय! इसे तो बड़ा ही ज्वर चढ़ा है!

शाहजहाँ

मूललेखक—द्विजेन्द्रलाल राय

बँगला भाषा के नाटककारों में आपका प्रमुख स्थान है। आपके नाटक अधिकतर मुगलकालीन इतिहास से संबंध रखते हैं।

अनुवादक—पं० रूपनारायण पाण्डेय

विवरण—प्रस्तुत उद्धरण में दारा के कैद हो जाने के पश्चात् शाहजहाँ और उसकी लड़की की बातचीत तथा शाहजहाँ का प्रलाप दिया गया है।

इसमें शाहजहाँ का दारा के प्रति पुत्रस्नेह और उसके अशक्यता-पूर्ण क्रोध का अच्छा चित्रण है।

❀ ❀ ❀ ❀

स्थान—आगरे के किले का शाही महल। **समय**—रात्रि।

(शाहजहाँ और जहानारा।)

शाहजहाँ—अब और क्या बुरी खबर है बेटी, अब और क्या बाकी है? मेरा दारा शिकस्त खाकर इधर-उधर भागा भागा फिर रहा है। शुजा ने जंगली आराकान के राजा के यहाँ जाकर पनाह ली है। मुराद ग्वालियर के किले में कैद है। और क्या बुरी खबर दे सकती हो बेटी?

जहानारा—अब्बा! यह मेरी बदनसीबी है कि मैं ही रोज-रोज बुरी खबर लेकर आपके पास आती हूँ। लेकिन क्या करूँ अब्बा, बदनसीबी अकेली नहीं आती।

 जहा०—अब्बा, भैया दारा गिरफ्तार हो गये।

शाह०—गिरफ्तार हो गया ?—कैसे गिरफ्तार हो गया ?

जहा०—जिहनखाँ ने धोखा देकर गिरफ्तार करा दिया।

शाह०—जिहनखाँ !—जिहनखाँ !—क्या कहती है जहानारा ! जिहनखाँ ने ?

जहा०—हाँ, अब्बा।

शाह०—कयामत का दिन क्या बहुत जल्द आने वाला है ?

जहा०—सुना, परसों दारा और उनके बेटे सिपर को एक बूढ़े हाथी की नंगी पीठ पर बैठाकर दिल्ली भर में घुमाया गया है ! वे मैले सादे कपड़े पहने थे। उनकी हालत देखकर कोई ऐसा न था, जो रो न दिया हो।

शाह०—तो भी उनमें से दारा को छुड़ाने के लिए कोई नहीं दौड़ा ? सिर्फ काठ के पुतलों की तरह खड़े-खड़े सब लोग देखते ही रहे ? वे सब क्या पत्थर के बने हुए थे ?

जहा०—नहीं, पत्थर भी गर्म हो उठता है। वे कीचड़ हैं। औरंगजेब की गोलियों और बंदूकों का खौफ सब पर गालिब है। मानो किसी जादूगर ने उन पर जादू डाल रक्खा है। कोई भी सिर उठाने की हिम्मत नहीं करता। रोते हैं—सो भी छिपकर—कहीं औरंगजेब देख न ले।

शाह०—उसके बाद ?

जहा०—उसके बाद औरंगजेब ने खिजराबाद में, एक गंदे और तंग मकान में दारा को कैद कर रक्खा है।

शाह०—और सिपर और जोहरत ?

जहा०—सिपर ने अपने बाप का साथ नहीं छोड़ा। जोहरत इस वक्त औरंगजेब के महल में है।

शाह०—तू जानती है, औरंगजेब ने दारा को क्यों कैद कर रक्खा है ? वह उससे क्या सलूक करेगा ?

जहा०—क्या करेगा सो नहीं जानती। लेकिन, लेकिन…

शाह०—क्यों जहानारा, काँप क्यों उठी ?

जहा०—अगर वही करे तो अब्बा ?

शाह०—क्या क्या ? जहानारा ?—मुँह क्यों ढक लिया ? वह—वह भी क्या मुमकिन है ? भाई भाई का कत्ल करेगा ?

जहा०—चुप। वह किसके पैरों की आहट है ? सुन लिया उसने।—अब्बा, आपने यह क्या किया ? क्या किया ?

शाह०—क्या किया ?

जहा०—वह बात कह डाली ! अब बचने की कोई सूरत नहीं रही !

शाह०—क्यों ?

जहा०—शायद औरंगजेब दारा का खून न करता । शायद इतने बड़े गुनाह की और बेरहमी की बात उसे सूझती ही नहीं । लेकिन वह बात आपने उसे सुझा दी !—क्या किया ! क्या किया ? सब सत्यानाश कर दिया !

शाह०—औरंगजेब तो यहाँ नहीं है । किसने सुन लिया ?

जहा०—वह नहीं है । लेकिन यह दीवार तो है, हवा तो है, चिराग तो है । आज सब उसी के शरीक हैं । आप समझते हैं, यह आपका महल है । नहीं, यह औरंगजेब का पत्थर का जिगर है । यह हवा नहीं, औरंगजेब की जहरीली साँस है । यह चिराग नहीं, उस जल्लाद की कहर की नजर है । अब्बाजान, क्या आप यह सोचते हैं कि इस महल में, इस किले में, इस सल्तनत में, आपका या मेरा एक भी दोस्त है ? नहीं, एक भी नहीं है । सब उसी के शरीक हो गये हैं । सब खुशामदी और मतलब के यार हैं । जुआचोर हैं !—यह किसकी परछाहीं है ?

शाह०—कहाँ ?

जहा०—नहीं, कोई नहीं ।—आप उधर क्या देख रहे हैं अब्बाजान ?

शाह०—कूद पड़ूँ ?

जहा०—यह क्यों अब्बा ?

शाह०—देखूँ, शायद दारा को बचा सकूँ । वे लोग उसे कत्ल करने के लिए जा रहे हैं और मैं यहाँ औरतों की तरह, बच्चों की तरह लाचार हूँ ! आँखों के आगे यह सब देखकर भी खाता, पीता, सोता और अब तक जिन्दा हूँ । उसके लिए कुछ नहीं करता !—कूद पड़ूँ ।

जहा०—यह क्या अब्बा ! जहाँ से कूदने पर यह तय है कि जान नहीं बच सकती ।

शाह०—मर जाऊँगा तो उससे क्या ? देखूँ, अगर बचा सकूँ—बचा सकूँ ।

जहा०—अब्बा ! आप क्या अपने आपे में नहीं हैं ? मरकर आप दारा की जान कैसे बचा सकेंगे ?

शाह०—ठीक है, ठीक है । मैं मरकर दारा को कैसे बचा सकूँगा ? ठीक कहती है । फिर—फिर !—अच्छा—जरा तू यहाँ औरंगजेब को ले आ सकती है ?

जहा०—नहीं अब्बा, वह नहीं आवेगा । नहीं तो मैं औरत होकर भी एक मर्तबा उससे लड़कर देखती । उस दिन मैंने दरबार में रूबरू खड़े होकर उसका मुकाबिला किया था, मगर कुछ कर नहीं सकी । इसी सबब से उस दिन

 से मेरे बाहर जाने-आने पर भी सख्त निगरानी रक्खी जाती है। नहीं तो एक दफा उससे लड़ाई करके जरूर देखती।

शाह०—फाँदूँ।—कूद पड़ूँ? (कूदना चाहते हैं)

जहा०—अब्बा, आप ये क्या पागलों की सी बातें कर रहे हैं?

शाह०—सच तो है। मैं क्या पागल हुआ जा रहा हूँ। ना ना ना, मैं पागल न होऊँगा! या खुदा! इस अपाहिज, बूढ़े, निहायत लाचार शाहजहाँ को देख खुदा!—तुझे तरस नहीं आता, तरस नहीं आता। बेटे ने बाप को कैद कर रक्खा है—वह बेटा जो एक दिन उस बाप के खौफ़ से काँपता था—इतनी बेइन्साफी, इतना जुल्म, ऐसी कुदरती कानून के ख़िलाफ़ वारदात तुम देख रहे हो? देख सकते हो?—मैंने ऐसा क्या गुनाह किया था कि खुद मेरा ही बेटा—ओ!—

जहा०—एक मर्तबा इस वक्त अगर वह मेरे सामने आ जाता, तो!—(दाँत पीसना)।

शाह०—मुमताज! तुम बड़ी खुशकिस्मत हो, जो अपने बेटे की ऐसी नालायक और सदमा पहुँचाने वाली करतूत देखने को नहीं रहीं। तुमने कोई बड़ा सबाब किया था, इसी से तुम पहले चल दीं।—जहानारा!

जहा०—अब्बा!

शाह०—मैं तुझे दुआ देता हूँ—

जहा०—क्या अब्बा।

शाह०—कि तेरे औलाद न हो—दुश्मन के भी औलाद न हो। (प्रस्थान)

(दूसरी ओर से जहानारा का प्रस्थान)

ध्रुवस्वामिनी

लेखक—**श्रीजयशङ्करप्रसाद** रचना—**संवत् १९९०**

आप हिन्दी के अग्रगण्य कवियों में से हैं। हिन्दी के नाटक-कारों में आपका प्रमुख स्थान है। आपका कामायनी नाम का महाकाव्य मङ्गलाप्रसाद-पुरस्कार से सम्मानित हुआ था।

विवरण—यह एक ऐतिहासिक नाटक है। महाराज समुद्रगुप्त के पश्चात् रामगुप्त गुप्त-साम्राज्य के अधिकारी बने थे। वे कुछ अशक्त थे और नाचरंग में मस्त रहना पसन्द करते थे। शकों का आक्रमण पर उन्होंने अपने प्राण बचाने के लिए शकराज की यह शर्त स्वीकार ली कि ध्रुवस्वामिनी अन्य सामन्त-पत्नियों के साथ शकराज के

शिविर मे चली जायगी। ध्रुवस्वामिनी रोती है और शकराज के
यहाँ उसे न भेजने की रामगुप्त से प्रार्थना करती है। उसकी प्रार्थना न सुनी जाने पर ध्रुवस्वामिनी आत्महत्या करने को उद्यत होती है। चन्द्रगुप्त द्वितीय ध्रुवस्वामिनी को आत्महत्या करने से रोक लेता है। स्वयं अन्य सामन्तों के साथ ध्रुवस्वामिनी का रूप रखकर जाता है। वहाँ शकराज को मार रामगुप्त से साम्राज्य का अधिकार ले लेता है।

प्रस्तुत उद्धरण मे शकराज और मिहिरदेव की कन्या से जो शकराज की महिषी होने वाली थी, वार्तालाप तथा चन्द्रगुप्त और सामन्तों द्वारा शकराज के मारे जाने का वर्णन है। अन्त में ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त को वरती है। इस नाटक मे यहाँ दिखलाया गया है कि जो स्त्री के संमान की रक्षा नहीं कर सकता, वह उससे विवाह करने का अधिकारी नहीं है।

द्वितीय अंक

(शकदुर्ग के भीतर सुनहले काम वाले खम्भों पर एक दालान, बीच में छोटी छोटी दो सीढ़ियाँ, उसी के सामने काश्मीरी खुदाई का सुन्दर लकड़ी का सिंहासन। बीच के दो खम्भे खुले हुए हैं। उसके दोनों ओर मोटे-मोटे चित्र बने हुए तिब्बती ढंग के रेशमी पर्दे पड़े हैं। सामने बीच में छोटा-सा आँगन की तरह, जिसके दोनों ओर क्यारियाँ, उनमें दो-चार पौधे और लताएँ फूलों से लदी दिखाई पड़ती हैं।

कोमा—(धीरे २ पौधों को देखती हुई प्रवेश करके) इन्हें सींचना पड़ता है। नहीं तो इनकी रुखाई और मलिनता सौंदर्य्य पर आवरण डाले देती है। (देखकर) आज तो इनके पत्ते धुले हुए भी नहीं हैं। इनमें फूल, जैसे मुकुलित होकर ही रह गये हैं। खिलखिलाकर हँसने का मानो इन्हें वल नहीं। (सोचकर) ठीक इधर कई दिनों से महाराज अपने युद्ध-विग्रह में लगे हुए हैं और मैं भी यहाँ नहीं आई, तो फिर इनकी चिन्ता कौन करता ? उसी दिन मैंने यहाँ दो मञ्च और भी रख देने के लिए कह दिया था, पर सुनता कौन है ? सब जैसे रक्त के प्यासे ! प्राण लेने और देने में पागल ! वसन्त का उदास और अलस पवन आता है, चला जाता है। कोई उस स्पर्श से परिचित नहीं। ऐसा तो वास्तविक जीवन नहीं है। (सीढ़ी पर बैठकर सोचने लगती है) प्रणय ! प्रेम ! जब सामने से आते हुए तीव्र आलोक की तरह आँखों में प्रकाश-पुञ्ज उड़ेल देता है, तब सामने की सब वस्तुएँ और भी अस्पष्ट होजाती हैं। अपनी

 भी प्रकाश की किरणें नहीं। तब वही, केवल वही! हो पागलपन, भूल हो, दुःख मिले। प्रेम करने की एक ऋतु होती है। उसमें चूकना, उसमें सोच-समझकर चलना दोनों बराबर हैं। सुना है, दोनों ही संसार के चतुरों की दृष्टि में मूर्ख बनते हैं। तब कोमा! तू किसे अच्छा समझती है? (गाती है)

यौवन! तेरी चंचल छाया।
इसमें बैठ घूँट भर पीलूँ, जो रस तू है लाया।
मेरे प्याले में मद बनकर कब तू छली! समाया?
जीवन-वंशी के छिद्रों में स्वर बनकर लहराया।
पल भर रुकने वाले! कह तू पथिक! कहाँ से आया?

(चुप होकर आँखें बंद किये तन्मय होकर बैठी रह जाती है)

(शकराज का प्रवेश। हाथ में एक तलवार लिये चिन्तित भाव से आकर इस तरह खड़ा होता है, जिससे कोमा को नहीं देखता)

शकराज—खिंगल अभी नहीं आया, क्या वह वन्दी तो नहीं कर लिया गया? नहीं, यदि वे अन्धे नहीं हैं तो उन्हें अपने सिर पर खड़ी विपत्ति दिखाई देनी चाहिए। (सोचकर) विपत्ति केवल उन्हीं पर तो नहीं है। हम लोगों को भी रक्त की नदी बहानी पड़ेगी। चित्त बड़ा चञ्चल हो रहा है, तो बैठ जाऊँ? इस एकान्त में अपने बिखरे हुए मन को सँभाल लूँ? (इधर-उधर देखता है, कोमा आहट पाकर उठ खड़ी होती है। उसे देखकर) अरे, कोमा! कोमा!

कोमा—हाँ, महाराज! क्या आज्ञा है?

शकराज—(उसे स्निग्ध भाव से देखकर) आज्ञा नहीं, कोमा! तुम्हें आज्ञा न दूँगा। तुम रूठी हुई-सी क्यों बोल रही हो?

कोमा—रूठने का सुहाग मुझे मिला कब?

शकराज—आजकल मैं जैसी भीषण परिस्थिति में हूँ, उसमें अन्यमनस्क होना स्वाभाविक है; तुम्हें यह न भूल जाना चाहिए।

कोमा—तो क्या आपकी दुश्चिन्ताओं में मेरा भाग नहीं? मुझे उससे अलग रखने से क्या वह परिस्थिति कुछ सरल हो रही है?

शकराज—तुम्हारे हृदय को उन दुर्भावनाओं में डालकर मैं व्यथित करना नहीं चाहता। मेरे सामने जीवन-मरण का प्रश्न है।

कोमा—प्रश्न स्वयं किसी के सामने नहीं आते। मैं तो समझती हूँ कि मनुष्य उन्हें जीवन के लिए उपयोगी समझता है, मकड़ी की तरह लटकने के लिए आप ही जाला बुनता है। जीवन का प्राथमिक प्रसन्न उल्लास मनुष्य के

भविष्य में मंगल और सौभाग्य को आमंत्रित करता है। उससे उदासीन
न होना चाहिए महाराज!

शकराज—सौभाग्य और दुर्भाग्य मनुष्य की दुर्बलता के भय हैं। मैं तो पुरुषार्थ को ही सब का नियामक समझता हूँ। पुरुषार्थ ही सौभाग्य को खींच लाता है। हाँ, मैं इस युद्ध के लिए उत्सुक नहीं था कोमा, मैं ही दिग्विजय के लिए नहीं निकला था।

कोमा—संसार के नियम के अनुसार अपने से महान् के सम्मुख थोड़ा-सा विनीत बनकर इस उपद्रव से अलग रह सकते थे।

शकराज—यही तो मुझसे नहीं हो सकता।

कोमा—अभावमयी लघुता में मनुष्य अपने को महत्त्वपूर्ण दिखाने का अभिनयन करे तो क्या अच्छा नहीं है?

शकराज—(चिढ़कर) यह शिक्षा अभी रहने दो कोमा, मैं किसी से बड़ा नहीं हूँ तो छोटा भी नहीं बनना चाहता। तुम अभी तक पाषाणी प्रतिमा की तरह वहीं खड़ी हो, मेरे पास आओ।

कोमा—पाषाणी! हाँ, राजा! पाषाण के भीतर भी कितने मधुर स्रोत बहते रहते हैं, उनमें मदिरा नहीं, शीतल जल की धारा बहती है। प्यासों की तृप्ति—

शकराज—किन्तु मुझे तो इस समय की स्फूर्ति के लिए एक प्याला मदिरा ही चाहिए।

कोमा—(स्थिर दृष्टि से देखती हुई) मैं ले आती हूँ आप बैठिए। (कोमा एक छोटा-सा मंच रख देती है और चली जाती है। शकराज मंच पर बैठ जाता है।) (खिंगल का प्रवेश)

शकराज—कहो जी, क्या समाचार है?

खिंगल—महाराज! मैंने उन्हें अच्छी तरह समझा दिया कि हम लोगों का अवरोध दृढ़ है। उन्हें दो में से एक करना ही होगा। या तो अपने प्राण दें अन्यथा मेरे सन्धि नियमों को स्वीकार करें।

शकराज—(उत्सुकता से) तो वे समझ गये?

खिंगल—दूसरा उपाय ही क्या था? यह छोकड़ा रामगुप्त, समुद्रगुप्त की तरह दिग्विजय करने निकला था। उसे इस बीहड़ पहाड़ी घाटियों का परिचय नहीं मिला था। किन्तु सब बातों को समझकर वह आपके नियमों को मानने के लिए बाध्य हुआ।

 शकराज—(प्रसन्नता से उठकर उसके दोनों हाथों को पकड़ लेता है) ऐं! तुम सच कहते हो? मुझे तो आशा नहीं। क्या दूसरा प्रस्ताव भी रामगुप्त ने मान लिया?

(स्वर्ण के कलश में मदिरा लेकर कोमा चुपके से आकर पीछे खड़ी हो जाती है)

खिंगल—हाँ, महाराज! उसने माँगे हुए सब उपहारों को देना स्वीकार किया और ध्रुवस्वामिनी भी आपकी सेवा में शीघ्र ही उपस्थित होती है। (कोमा चौंक उठती है और शकराज प्रसन्नता से खिंगल के हाथों को झकझोरने लगता है)

शकराज—खिंगल! तुमने कितना सुन्दर समाचार सुनाया! आज देव-पुत्रों की स्वर्गीय आत्माएँ प्रसन्न होंगी। उनकी पराजयों का यह प्रतिशोध है। हम लोग गुप्तों की दृष्टि में जगली, बर्बर और असभ्य हैं, तो फिर मेरी प्रतिहिंसा भी बर्बरता के ही अनुकूल होगी। हाँ, मैंने अपने शूर-सामन्तों के लिए भी स्त्रियाँ माँगी थीं।

खिंगल—वे भी साथ ही आवेंगी।

शकराज—तो फिर सोने की झाँझ वाली नाच का प्रबन्ध करो। इस विजय का उत्सव मनाया जाय और मेरे सामन्तों को भी शीघ्र बुला लाओ।

(खिंगल का प्रस्थान। शकराज अपनी प्रसन्नता में उद्विग्न-सा इधर-उधर टहलने लगता है और कोमा अपना कलश लिये हुए धीरे-धीरे सिंहासन के पास जाकर खड़ी हो जाती है। चार सामन्तों का प्रवेश। दूसरी ओर से नर्तकियों का दल आता है। शकराज उनकी ओर ही देखता हुआ सिंहासन पर बैठ जाता है। सामन्त लोग उसके पैरों के नीचे सीढ़ियों पर बैठते हैं। नर्तकियाँ नाचती हुई गाती हैं)

गाना

अस्ताचल पर युवती संध्या की खुली अलक घुँघराली है।
लो, मानिक मदिरा की धारा अब बहने लगी निराली है।
भर ली पहाड़ियों ने अपनी झीलों की रत्नमयी प्याली।
झुक चली चूमने वल्लरियों से लपटी तरु की डाली है।
यह लगा पिघलने मानिनियों का हृदय मृदु प्रणय रोष-भरा।
वे हँसती हुई दुलार भरी मधु-लहर उठाने वाली है।
भरने निकले हैं प्यार भरे जोड़े कुंजों की झुरमुट से।
इस मधुर अँधेरी में अब तक क्या इनकी प्याली खाली है।
भर उठीं प्यालियाँ, सुमनों ने सौरभ मकरन्द मिलाया है।
कामिनियों ने अनुराग भरे अधरों से उन्हें लगा ली है।

वसुधा मदमाती हुई उधर आकाश लगा देखो झुकने ।
सब झूम रहे अपने सुख में तूने क्या बाधा डाली है ?

(नर्तकियाँ जाने लगती हैं)

एक सामन्त—श्रीमान् ! इतनी बड़ी विजय के अवसर पर इस सूखे उत्सव से सन्तोष नहीं होता, जब कि कलश सामने भरा हुआ रक्खा है ।

शकराज—ठीक है । इन लोगों को केवल कहकर ही नहीं, प्यालियाँ भर कर भी देनी चाहिएँ ।

(सब पीते हैं और नर्तकियाँ एक-एक को सानुरोध पान कराती हैं)

दूसरा सामन्त—श्रीमान् की आज्ञा मानने के अतिरिक्त दूसरी गति नहीं। उन्होंने समझ से काम लिया, नहीं तो हम लोगों को इस रात की कालिमा में रक्त की लाली मिलानी पड़ती ।

तृतीय सामन्त—क्या, बक-बक करते हो ? चुप-चाप इस बिना परिश्रम की विजय का आनन्द लो । लड़ना पड़ता तो सारी हेकड़ी भूल जाती ।

दूसरा सामन्त—(क्रोध से लड़खड़ाता हुआ उठता है) हमसे ?

तीसरा सामन्त—हाँ जी, तुमसे !

दूसरा सामन्त—तो फिर आओ तुम्हीं से निपट लें । (सब परस्पर लड़ने की चेष्टा कर रहे हैं। शकराज खिंगल को संकेत करता है । वह उन लोगों को बाहर लिवा जाता है । तूर्यनाद)

शकराज—रात्रि के आगमन की सूचना हो गई । दुर्ग का द्वार अब शीघ्र ही बन्द होगा । अब तो हृदय अधीर हो रहा है । खिंगल !

(खिंगल का पुन प्रवेश)

खिंगल—दुर्ग तोरण में शिविकाएँ आ गई हैं ।

शकराज—(गर्व से) तब विलम्ब क्यों ? उन्हें अभी ले आओ ।

खिंगल—(सविनय) किन्तु रानी की एक प्रार्थना है ।

शकराज—क्या ?

खिंगल—वह पहले केवल श्रीमान् से ही सीधे भेंट करना चाहती हैं। उनकी मर्यादा······

शकराज—(ठठाकर हँसते हुए) क्या कहा—मर्यादा ! भाग्य ने झुकने के लिए उन्हें विवश कर दिया है, उन लोगों के मन में मर्यादा का ध्यान और भी अधिक रहता है । यह उनकी दयनीय दशा है ।

खिंगल—वह श्रीमान् की रानी होने के लिए आ रही है ।

शकराज—(हँसकर) अच्छा, तुम मध्यस्थ हो न ? तुम्हारी बात मानकर

 ] मैं उससे एकान्त में ही भेंट करूँगा ! जाओ । (खिंगल का प्रस्थान)

कोमा—महाराज ! मुझे क्या आज्ञा है ?

शकराज—(चौंककर) अरे, तुम अभी यहीं खड़ी हो ? मैं तो जैसे भूल ही गया था । मेरा हृदय चंचल हो रहा है । मेरे समीप आओ कोमा ।

कोमा—नई रानी के आगमन की प्रसन्नता से ?

शकराज—(सँभलकर) नई रानी का आना क्या तुम्हें अच्छा नहीं लगा, कोमा ?

कोमा—(निर्विकार भाव से) संसार में बहुत सी बातें बिना अच्छी हुए भी अच्छी लगती ही हैं । और बहुत सी अच्छी बातें बुरी मालूम पड़ती हैं ।

शकराज—(झुँझलाकर) तुम तो आचार्य मिहिरदेव की तरह दार्शनिकों की-सी बातें कर रही हो !

कोमा—वे मेरे पिता तुल्य हैं । उन्हीं की शिक्षा में मैं पली हूँ । हाँ, ठीक, है । जो बातें राजा को अच्छी लगें, वे ही मुझे भी रुचनी ही चाहिएँ ।

शकराज—(अव्यवस्थित होकर) अच्छा, तुम इतनी अनुभूतिमयी हो, यह मैं आज जान सका ।

कोमा—राजा तुम्हारी स्नेहसूचनाओं की सहज प्रसन्नता और मधुर अलापों ने जिस दिन मन के नीरस और नीरवशून्य में संगीत की, वसंत की और मकरंद की सृष्टि की थी, उसी दिन से मैं अनुभूतिमयी बन गई हूँ । क्या वह मेरा भ्रम था ? कह दो कह दो, कि वह तेरी भूल थी । (उत्तेजित कोमा सिर उठाकर राजा की आँखों से आँख मिलाती है)

शकराज—(संकोच से) नहीं कोमा, वह भ्रम नहीं था । मैं सच तुम्हें प्यार करता हूँ ।

कोमा—(उसी तरह) तब भी यह बात !

शकराज—(सशंक) कौन सी बात ?

कोमा—वही जो आज होने जा रही है ! मेरे राजा ! आज तुम एक स्त्री को अपने पति से विच्छिन्न कराकर अपने गर्व की तृप्ति के लिए कैसा अनर्थ कर रहे हो ?

शकराज—(हँसकर बात उड़ाते हुए) पागल कोमा ! वह मेरी राजनीति का प्रतिशोध है ।

कोमा—(दृढ़ता से) किन्तु, राजनीति का प्रतिशोध, क्या एक नारी को कुचले बिना पूरा नहीं हो सकता ?

शकराज—जो विषय न समझ में आवे, उस पर विवाद न करो ।

कोमा—(खिन्न होकर) मैं क्यों न करूँ ? (ठहरकर) किन्तु नहीं, मुझे विवाद करने का अधिकार नहीं । यह मैं समझ गई । (वह दुःखी होकर जाना चाहती है कि दूसरी ओर से मिहिरदेव का प्रवेश)

शकराज—(संभ्रम में खड़ा होकर) धर्मपूज्य मैं वन्दना करता हूँ ।

मिहिरदेव—कल्याण हो ! (कोमा के सिर पर हाथ रखकर) बेटी ! मैं तो तुझको ही देखने चला आया । तू उदास क्यों है ? (शकराज की ओर गूढ़ दृष्टि से देखने लगता है ।)

शकराज—आचार्य ! रामगुप्त का दर्पदलन करने के लिए, मैंने ध्रुवस्वामिनी को उपहार में भेजने की आज्ञा उसे दी थी । आज रामगुप्त की रानी मेरे दुर्ग में आई है । कोमा को इसमें आपत्ति है ।

मिहिरदेव—(गम्भीरता से) ऐसे काम में आपत्ति होनी ही चाहिए । राजा ! स्त्री का सम्मान नष्ट करके तुम जो भयानक अपराध करोगे, उसका फल क्या अच्छा होगा ? और भी, यह अपनी भावी पत्नी के प्रति तुम्हारा अत्याचार होगा ।

शकराज—(क्षोभ से) भावी पत्नी ?

मिहिरदेव—अरे ! क्या तुम इस क्षणिक सफलता से प्रमत्त हो जाओगे ? क्या तुमने अपने आचार्य की प्रतिपालिता कुमारी के साथ स्नेह का संबंध नहीं स्थापित किया है ? क्या इसमें भी संदेह है ? राजा ! स्त्रियों का स्नेह—विश्वास भंग कर देना, कोमल तंतु को तोड़ने से भी सहज है; परन्तु सावधान होकर उसके परिणाम को भी सोच लो ।

शकराज—मैं समझता हूँ कि आप मेरे राजनीतिक कामों में हस्तक्षेप न करें तो अच्छा हो ।

मिहिरदेव—राजनीति ? राजनीति ही मनुष्यों के लिए सब कुछ नहीं है । राजनीति के पीछे नीति से भी हाथ न धो बैठो; जिसका विश्वमानव के साथ व्यापक संबंध है । राजनीति की साधारण छलनाओं से सफलता प्राप्त करके क्षण-भर के लिए तुम अपने को चतुर समझ लेने की भूल कर सकते हो । परन्तु इस भीषण संसार में एक प्रेम करने वाले हृदय को खो देना, सब से बड़ी हानि है । शकराज ! दो प्यार करने वाले हृदयों के बीच में स्वर्गीय ज्योति का निवास है ।

शकराज—बस, बहुत हो चुका ! आपके महत्त्व की भी एक सीमा होगी । अब आप यहाँ से नहीं जाते हैं तो मैं ही चला जाता हूँ । (प्रस्थान)

मिहिरदेव—चल कोमा । हम लोगों को लताओं, वृक्षों और चट्टानों से छाया और सहानुभूति मिलेगी । इस दुर्ग से बाहर चल ।

 कोमा—(गद्गद कंठ से) पिताजी ? (खड़ी रह जाती है)

मिहिरदेव—बेटी हृदय को सँभाल। कष्ट सहने के लिए प्रस्तुत हो जा। प्रतारणा में बड़ा मोह होता है। उसे छोड़ने का मन नहीं करता। कोमा! छल का बहिरंग सुन्दर होता है—विनीत और आकर्षक भी; पर दुखदायी और हृदय को बेधने के लिए। इस बन्धन को तोड़ डाल।

कोमा—(सकरुण) तोड़ डालूँ पिताजी! मैंने जिसे अपने आँसुओं से सींचा, वही दुलार भरी वल्लरी, मेरे आँख बन्द कर चलने में मेरे ही पैरों से उलझ गई है। दे दूँ एक झटका—उसकी हरी हरी पत्तियाँ कुचल जायँ और वह भी छिन्न होकर धूल में लोटने लगे ? ना, ऐसी कठोर आज्ञा न दो।

मिहिरदेव—(निःश्वास लेकर आकाश को देखते हुए) यहाँ तेरी भलाई होती, तो मैं चलने के लिए न कहता। हम लोग अखरोट की छाया में बैठेंगे—झरनों के किनारे, दाख के कुजों में विश्राम करेंगे। जब नीले आकाश में मेघों के टुकड़े, मानसरोवर जाने वाले हंसों का अभिनय करेंगे, तब तू अपनी तकली पर ऊन कातती हुई कहानी कहेगी और मैं सुनूँगा।

कोमा—तो चलूँ (एक बार चारों ओर देखकर) एक घड़ी के लिए मुझे ··

मिहिरदेव—(ऊबकर आकाश की ओर देखता हुआ) तू नहीं मानती ? वह देख नील-लोहित रंग का धूमकेतु अविचल भाव से इस दुर्ग की ओर कैसा भयानक संकेत कर रहा है ?

कोमा—(उधर देखते हुए) तब भी एक क्षण मुझे······

मिहिरदेव—पागल लड़की! अच्छा, मैं फिर आऊँगा। तू सोच ले। विचार करले। (जाता है)

कोमा—जाना ही होगा ? तब यह मन की उलझन क्यों ? अमंगल का अभिशाप, अपनी क्रूर हँसी से इस दुर्ग को कँपा देगा और सुख के स्वप्न विलीन हो जायँगे। मेरे यहाँ रहने से उन्हें अपने भावों को छिपाने के लिए बनावटी व्यवहार करना होगा, पग-पग पर अपमानित होकर मेरा हृदय उसे सह न सकेगा। तो चलूँ ? यही ठीक है। पिता जी! ठहरिए, मैं आती हूँ।

शकराज—(प्रवेश करके) कोमा!

कोमा—जाती हूँ राजा!

शकराज—कहाँ ? आचार्य के पास ? मालूम होता है कि वे बहुत ही दुःखी होकर चले गये हैं।

कोमा—धूमकेतु को दिखाकर उन्होंने मुझसे कहा कि तुम्हारे दुर्ग में

रहने से अमंगल होगा।

शकराज—(भयभीत होकर उसे देखता हुआ) ओह भयावनी पूँछ वाला धूमकेतु ! आकाश का उच्छृंखलपर्यटक ! नक्षत्र-लोक का अभिशाप ! कोमा ! आचार्य को बुलाओ ! वे जैसा आदेश देंगे, वैसा ही मैं करूँगा। इस अमंगल की शान्ति होनी चाहिए।

कोमा—वे बहुत चिढ़ गये हैं। अब उनको प्रसन्न करना सहज नहीं है। वे मुझे अपने साथ लिवा जाने के लिए मेरी प्रतीक्षा करते होंगे।

शकराज—कोमा ! तुम कहाँ जाओगी ?

कोमा—पिता जी के साथ।

शकराज—और मेरा प्यार ! मेरा स्नेह सब भुला दोगी ? इस अमंगल की शान्ति करने के लिए आचार्य को न समझाओगी ?

कोमा—(खिन्न होकर) प्रेम का नाम न लो। वह एक पीड़ा थी, जो छूट गई। उसकी कसक भी धीरे-धीरे दूर हो जायगी। राजा ! मैं तुम्हें प्यार नहीं करती। मैं तो दर्प से दीप्त तुम्हारी महत्वमयी पुरुषमूर्ति की पुजारिन थी। जिसमें पृथ्वी पर अपने पैरों से खड़े रहने की दृढ़ता थी। इस स्वार्थमलिन कलुष से भरी मूर्ति से मेरा परिचय नहीं। अपने तेज की अग्नि में जो सब कुछ भस्म कर सकता हो, उस-दृढ़ता का, आकाश के नक्षत्र कुछ बना-बिगाड़ नहीं सकते। तुम आशंका मात्र से दुर्बल-कम्पित और भयभीत हो।

शकराज—(धूमकेतु को बार बार देखता हुआ) भयानक ! कोमा, मुझे बचाओ।

कोमा—जाती हूँ महाराज ! पिताजी मेरी प्रतीक्षा करते होंगे। (जाती है। शकराज अपने सिंहासन पर हताश होकर बैठ जाता है।)

प्रहरी—(प्रवेश करके) महाराज ध्रुवस्वामिनी ने पूछा है कि एकान्त हो तो आऊँ।

शकराज—हाँ, कह दो कि यहाँ एकान्त है और देखो यहाँ दूसरा कोई न आने पावे।

(प्रहरी जाता है। शकराज चंचल होकर टहलने लगता है। धूमकेतु की ओर दृष्टि जाती है तो भयभीत होकर बैठ जाता है)

शकराज—तो इसका कोई उपाय नहीं ? न जाने क्यों मेरा हृदय घबरा रहा है। कोमा को समझा बुझाकर ले आना चाहिए। (सोचकर) किन्तु इधर ध्रुवस्वामिनी जो आ रही है ! तो भी देखूँ यदि कोमा प्रसन्न हो जाय...। (जाता है)

(स्त्री-वेश में चन्द्रगुप्त आगे और पीछे ध्रुवस्वामिनी स्वर्ण-खचित उत्तरीय

 में सब अंग छिपाये हुए आती हैं। केवल खुले हुए मुँह पर प्रसन्न चेष्टा दिखाई देती है)

चन्द्रगुप्त—तुम आज कितनी प्रसन्न हो!

ध्रुवस्वामिनी—और तुम क्या नहीं?

चन्द्रगुप्त—मेरे जीवन-निशीथ का ध्रुव नक्षत्र इस घोर अन्धकार में अपनी स्थिर उज्ज्वलता से चमक रहा है? आज महोत्सव है न?

ध्रुवस्वामिनी—लौट जाओ, इस तुच्छ नारी-जीवन के लिए इतने महान् उत्सर्ग की आवश्यकता नहीं।

चन्द्रगुप्त—देवि! यह तुम्हारा क्षणिक मोह है। मेरी परीक्षा न लो। मेरे शरीर ने चाहे जो रूप धारण किया हो, किन्तु हृदय निश्छद्म है!

ध्रुवस्वामिनी—अपनी कामना की वस्तु न पाकर यह आत्म-हत्या जैसा प्रसंग तो नहीं है?

चन्द्रगुप्त—तीखे वचनों से मर्माहत करके भी आज कोई मुझे इस मृत्यु-पथ से विमुख नहीं कर सकता। मैं केवल अपना कर्त्तव्य करूँ, इसी में मुझे सुख है (ध्रुवस्वामिनी संकेत करती है। शकराज का प्रवेश। दोनों चुप हो जाते हैं। वह दोनों को चकित होकर देखता है)

शकराज—मैं किसको रानी समझूँ? रूप का ऐसा तीव्र आलोक! नहीं, मैंने कभी नहीं देखा था। इसमें ध्रुवस्वामिनी कौन है?

ध्रुवस्वामिनी—यह मैं आ गई हूँ।

चन्द्रगुप्त—(हँसकर) शकराज को तुम धोका नहीं दे सकती हो। ध्रुवदेवी कौन है? यह एक अन्धा भी बता सकता है।

ध्रुवस्वामिनी—(आश्चर्य से) चन्द्रे! तुमको क्या हो गया है? यहाँ आने पर तुम्हारी इच्छा रानी बनने की हो गई है? या मुझे शकराज से बचाने के लिये यह तुम्हारी स्वामिभक्ति है? (शकराज चकित होकर दोनों की ओर देखता है)

चन्द्रगुप्त—कौन जाने तुम्हीं ऐसा कर रही हो?

ध्रुवस्वामिनी—चन्द्रे! तुम मुझे दोनों ओर से नष्ट न करो। यहाँ से लौट जाने पर भी क्या मैं गुप्तकुल के अंतःपुर में रहने पाऊँगी?

चन्द्रगुप्त—चन्द्रे कहकर मुझको पुकारने से तुम्हारा क्या तात्पर्य है? यह अच्छा झगड़ा तुमने फैलाया। इसी लिये मैंने एकान्त में मिलने की प्रार्थना की थी।

ध्रुवस्वामिनी—तो क्या मैं यहाँ भी छली जाऊँगी?

शकराज—ठहरो! दोनों को ध्यान से देखता हुआ) क्या चिन्ता

यदि मैं दोनों को ही रानी समझ लूँ?

ध्रुवदेवी—ऐं.........

चन्द्रगुप्त—हैं.........

शकराज—क्यों, इसमें क्या बुरी बात है?

चन्द्रगुप्त—जी नहीं, यह नहीं हो सकता। ध्रुवस्वामिनी कौन है? पहले इसका निर्णय होना चाहिए।

ध्रुवस्वामिनी—(क्रोध से) चन्द्रे! मेरे भाग्य के आकाश में, धूमकेतु-सी अपनी गति बन्द करो।

शकराज—(धूमकेतु की ओर देखकर भयभीत-सा) ओह, भयानक! (व्यग्र भाव से टहलने लगता है)

चन्द्रगुप्त—(शकराज की पीठ पर हाथ रखकर) सुनिये—

ध्रुवस्वामिनी—चन्द्रे!

चन्द्रगुप्त—इस धमकी से तो कोई लाभ नहीं।

ध्रुवस्वामिनी—तो फिर मेरा और तुम्हारा जीवन-मरण साथ ही होगा।

चन्द्रगुप्त—तो डरता कौन है? (दोनों ही शीघ्र कटार निकाल लेते हैं)

शकराज—(घबराकर) हैं, यह क्या? तुम लोग यह क्या कर रही हो? ठहरो। आचार्य ने ठीक कहा है, आज शुभमुहूर्त नहीं। मैं कल विश्वसनीय व्यक्ति को बुलाकर इसका निश्चय कर लूँगा। आज तुम लोग विश्राम करो।

ध्रुवस्वामिनी—नहीं, इसका निश्चय तो आज ही होना चाहिए।

शकराज—(बीच में खड़ा होकर) मैं कहता हूँ न।

चन्द्रगुप्त—वाह रे कहने वाले!

(ध्रुवस्वामिनी मानो चन्द्रगुप्त के आक्रमण से भयभीत होकर पीछे हटती है और तूर्यनाद करती है। शकराज आश्चर्य से उसे सुनता हुआ सहसा घूमकर चन्द्रगुप्त का हाथ पकड़ लेता है। ध्रुवस्वामिनी झटके से चन्द्रगुप्त का उत्तरीय खींच लेती है और चन्द्रगुप्त हाथ छुड़ाकर शकराज को घेर लेता है)

शकराज—(चकित-सा) ऐं, यह तुम कौन प्रवंचक!

चन्द्रगुप्त—मैं हूँ चन्द्रगुप्त, तुम्हारा काल! मैं अकेला आया हूँ, तुम्हारी वीरता की परीक्षा लेने! सावधान!

(शकराज भी कटार निकालकर युद्ध के लिए अग्रसर होता है। युद्ध और शकराज की मृत्यु। बाहर दुर्ग में कोलाहल। 'ध्रुवस्वामिनी की जय' का हल्ला मचाते हुए रक्ताक्त कलेवर सामन्त-कुमारों का प्रवेश। ध्रुवस्वामिनी और

 चन्द्रगुप्त को घेरकर समवेत स्वर से ध्रुवस्वामिनी की जय हो)

पटाक्षेप

बुद्धदेव अथवा मूर्तिमान् त्याग

लेखक—श्रीविश्वम्भरसहाय 'व्याकुल'

रचनाकाल—संवत् १९७६ के लगभग

आपको नाट्यकला का बहुत अच्छा ज्ञान था। आपके नाम से 'व्याकुलनाटक-मंडली' खोली गई थी।

विवरण—इस नाटक में बुद्धदेव के त्याग का वर्णन है। प्रस्तुत उद्धरण में बुद्धदेव के वन चले जाने के बाद का दृश्य है। इसमें बुद्धदेव के माता-पिता एवं धर्म-पत्नी (गोपा) का विलाप तथा राजा शुद्धोदन और बुद्धदेव के सारथि छन्दक का वार्तालाप है। छन्दक ने राजा को बतलाया है कि बुद्धदेव किस प्रकार घर को छोड़कर गये।

रंगमंच की दृष्टि से जो नाटक लिखे गये थे, उनमें इसकी अच्छी ख्याति है।

पहिला अंक

दसवाँ दृश्य

स्थान—राजभवन

[राजा शुद्धोदन मलिन-मुख से आते हैं]

राजा—चला गया, मेरा सिद्धार्थ चला गया। बेटा! तुम बड़े ही हठीले निकले। तुम्हें माता-पिता के बुढापे पर दया न आई। विधाता! क्या तुमसे किसी का हर्ष नहीं देखा जाता? कोई निस्संतान होने के कारण आँसू बहाता है, किसी का पुत्रवियोग के दुख से हृदय फटा जाता है। क्या तुम्हें मनुष्य के दुखी रहने ही में आनन्द आता है? (दो दासियों के साथ रानी गोमती का प्रवेश)

रानी—(घबराई हुई) कहिए नाथ! बालक का पता चला?

राजा—(लम्बी साँस लेकर) नहीं! अभी तक कोई लौट कर नहीं आया।

रानी—कौन आता? किसी के कलेजे को लगी होती तो कोई आता। दूसरे के दुख की किसको चिंता होती है? बेटे की माँ को ही ममता होती है। परमात्मा! क्या मुझ जनम-जली का जन्म संसार में इसी लिए हुआ था? मेरे ही भाग्य में यह देखना बदा था? बहन माया! तू बड़ी भाग्यवती रही। पुत्र वियोग का दुख न देखा; पहले ही चली गई। हाय! न जाने, मेरा लाल किस अवस्था

में होगा ? (उन्मत्त सी होकर) कहाँ हो, मेरे लाखों के पाले ! कहाँ हो ?
मेरे अँधेरे घर के उजाले ! कहाँ हो ? मेरी आँखों के तारे ! मुझे इस अंधकार में छोड़ कहाँ सिधारे ? बेटा ! तुम्हारे बिना अब यह भवन नहीं भाता; फाड़ खाने को आता है। पुत्र ! तुमने तो आज तक क्लेश का नाम भी नहीं सुना था, फिर वन में रहकर कैसे जीवन बिताओगे ? वहाँ तुम्हारे खान-पान का कौन प्रवन्ध करेगा ? हाय ! मैं अपनी बहू का मन कैसे बहलाऊँगी ? उसे क्या कहकर समझाऊँगी ? आओ घर लौट आओ, मेरे प्राण जाते हैं। देखो, मेरी छाती फटी जाती है। तुम निर्दयी तो नहीं हो; बड़े दयाशील हो। तुम्हें तो संसार-भर के जीवों पर दया आती है।

राजा—(कातर स्वर से) हाँ, आओ बेटा ! एक बार तो लौट ही आओ। अपने पिता के प्राण चले जाने पर चाहे फिर चले जाना। अरे ! प्राण भी तो नहीं निकलते। हा दशरथ ! तुम बड़े बड़भागी थे। सच्चे सुत-अनुरागी थे। न जिये, न जिये। अंत को पुत्र-वियोग में प्राण दे ही दिये।

(सिद्धार्थ के वस्त्र-आभूषण लिये छंदक आता है)

छंदक—जय जीव।

राजा—छंदक ! तू आ गया ? (घबराहट से) और मेरा सिद्धार्थ कहाँ है ?

रानी—अरे ! मेरे लाल को कहाँ छोड़ आया ? मेरी कोख उजाड़कर यह किसके वस्त्र ले आया ? हाय जिस रत्न को मैंने बड़े यत्न से रक्खा था, तू उसे एक क्षण में ही खो आया ? (रोकर) वह मेरी आँखों का तारा, जीने का सहारा था। अरे ! बता तो सही, उसने कुछ कहा भी है ? किस बात पर रूठ कर गया है ? (राजा से) प्राणनाथ ! यह बात हो तो तुम्हीं चले जाओ, मेरे बालक को मना लाओ।

राजा—प्रिये ! किसे मनाकर लाऊँ ? किसे समझाकर लाऊँ ? जो मुझे समझा कर गया है, उसे कैसे लौटा कर लाऊँ। छंदक ! सुनाओ, सुनाओ। सिद्धार्थ के वन गमन का कुछ वृत्तान्त सुनाओ।

छंदक—नाथ क्या बताऊँ ? किस मुँह से वृत्तात सुनाऊँ ? आधी रात के समय युवराज ने घोड़ा मँगाया। मैंने बहुतेरा समझाया, परन्तु एक न मानी। राजधानी त्याग, वन की ओर सिधारे। अनुमा नदी के किनारे पर पहुँचकर वस्त्र और आभूषण उतारे। सिर के बाल काटकर फेंक दिये। आप पाँव-पाँव-वन को हो लिये।

राजा—क्यों छंदक ! तूने उसे किसी युक्ति से न समझाया ? संन्यास ही

 दिलाकर चला आया ?

छंदक—मैंने साथ चलने के लिए बड़ा आग्रह किया। हाथ जोड़े, पाँवों में सिर दिया।

राजा—अच्छा, अच्छा। फिर क्या कहा ?

छंदक—किसी प्रकार माने ही नहीं और कहने लगे कि 'यदि तू न जायगा, तो मेरे विरह-सागर में डूबे हुए माता-पिता और मेरी स्त्री को वन-गमन का वृत्तांत कौन सुनाएगा; उन्हें कैसे संतोष आएगा ?'

राजा—फिर इसका तूने क्या उत्तर दिया ?

छंदक—मैंने कहा कि 'मैं नगर में जाकर पुरवासियों को क्या मुँह दिखलाऊँगा ? महाराज पूछेंगे तो क्या बतलाऊँगा ? महारानी से क्या कहूँगा ? बहूरानी को क्या कहकर समझाऊँगा ?'

रानी—फिर क्या बोला ?

छंदक—इस का यह उत्तर दिया कि 'जो शक्ति आप लोगों के हृदय में स्नेह-रूप से रहती है, उसी की निर्मल धारा मेरे हृदय में सेवास्वरूप होकर बहती है।'

राजा—क्या मेरे वनवासी का यही अन्तिम संदेश है ?

छंदक—नहीं, इतना और कहा है—

मैं जब उद्देश्य में उत्तीर्ण हो जाऊँगा, आऊँगा,
फिर अपनी प्रेम सेवा से जगत का दुख मिटाऊँगा।
बताऊँगा कि यह है सत्य और यह ज्ञान-ज्योति है;
मनुष्यों की मनुष्यों से ही पूरी आस होती है॥

राजा—सिद्धार्थ ! हाय सिद्धार्थ ! तुमने धोका दिया। तुम बड़े कठोर-हृदय निकले। तुम तो अपने आपको पितृ-भक्त कहा करते थे, स्त्री, बालक से भी बड़ा प्रेम किया करते थे। उस पर ऐसी निष्ठुरता ! (नेपथ्य की ओर देखकर) देखो, रानी ! देखो। यह कौन आ रही है ?

रानी—और कौन होती ? आपकी पुत्र-वधू गोपा ही है।

राजा—अखिलेश ! यह कैसा क्लेश ? स्वर्णलता बहू और संन्यासिनी का वेष। (रानी से) प्रिये ! मुझसे इस दुखिया की यह दुर्गति नहीं देखी जाती। हाय ! पति-वियोग से कैसी बावली हो गई है। अब तो मेरे सम्मुख आती भी नहीं सकुचाती। (पति-वियोग से उन्मत्त गोपा गाती हुई आती है)

गोपा—

तन, धन, धाम, धरनि, पुरराजू। पति-विहीन सब शोक-समाजू॥

(वेग से छंदक की ओर जाती है)

[सब आश्चर्य से और शोक-पूर्ण दृष्टि से देखते हैं]

लाओ छंदक ! यह मुझे लाओ । मेरे पति के वस्त्र, आभूषण मेरे पास लाओ । मैं इन्हें सिंहासन पर धरूँगी, हृदयासन पर धरूँगी, मैं इनकी पूजा करूँगी ।

रानी—हाँ-हाँ ले जाओ, ले जाओ । अपने पति के वस्त्राभूषण ले जाओ। परन्तु यह तो बताओ, ऐसा वेश रखने से तुम्हारा क्या उद्देश्य है ? पुत्र-वियोग का तो मुझे भी क्लेश है ! बेटी ! मैं तो तेरा ही मुख देखकर अपना दुख भुलाती हूँ। पुत्र की जगह पौत्र ही को छाती लगाती हूँ।

गोपा—माँ ! मेरे पति संन्यासी हो गये हैं, वनवासी हो गये हैं। मैं उनकी अर्द्धांगिनी हूँ, सहधर्मिणी हूँ । दूसरा धर्म कैसे रख सकती हूँ ? माँ ! जिनके आदर से मेरा आदर था । जिनके मान से मेरा मान । मैं युवरानी कहलाती थी; माँग चोटी करती थी, मेंहदी रचाती थी, वे कहाँ हैं ? बताओ कहाँ हैं ? अब यह प्रमोदागार मेरे लिए कारागार है । चारों ओर अंधकार है । (उन्मत्तता के वेग से) देखो माँ मेरी देह पर विभूति कैसी शोभा दे रही है ! माँ ! मैं संन्यासी की स्त्री हूँ न ? देखो, मैंने चूड़ियाँ नहीं उतारी हैं, सिर का सिंदूर दूर नहीं किया है । माँ ! यह मेरा सुहाग है, यह उनका अनुराग है। (गोपा का प्रस्थान)

राजा—छंदक ! तुम सुमन्त हो मैं दशरथ हूँ। मेरा सिद्धार्थ राम है। तुम उसे वन में छोड़ आये हो । (उन्मत्तता के वेग से उगली उठाकर) देखो, देखो, इन्द्र की पताका। ओहो ! सारे नगर में ज्योति-ही-ज्योति फैली हुई है (क्षण-भर चुप रह कर) सुनो, सुनो । यह दुंदुभी कैसी बज रही है । एँ ! श्वेत घोड़ों के रथ पर यह कौन आ रहा है ? क्या मेरा सिद्धार्थ है ? आओ, वत्स ! मेरी गोद में आओ, मेरे हृदय से लग जाओ ।

[राजा नेपथ्य मे बढ़ा चला जाता है । उसके पीछे सब जाते हैं]

ज्योत्स्ना

लेखक—श्रीसुमित्रानन्दन पंत रचना-काल—संवत् १९९१

आप प्रमुख छायावादी कवि हैं। वीणा, पल्लव, ग्रन्थि, युगान्तर युगवाणी आदि आपके प्रधान काव्य-ग्रन्थ हैं ।

विवरण—यह एक कल्पना-प्रधान नाटक है । इसमें ज्योत्स्ना, पवन आदि प्राकृतिक पदार्थों को पात्र बनाकर उनके द्वारा कवि के दृष्टि-कोण से संसार की समस्याओं पर विचार कराया गया है ।

प्रस्तुत उद्धरण में पवन और ज्योत्स्ना द्वारा मानव समाज की

 संघर्ष-प्रधान परिस्थिति की आलोचना कराई गई है; ज्योत्स्ना स्वर्ग की सम्राज्ञी है।

❀ ❀ ❀ ❀

किरणें—ऐसा ही होगा, सम्राज्ञि !

(पुनः गीतध्वनि। नेपथ्य में बाजा बजता है। सब लोग एकटक आकाश की ओर देखते हैं)

गीत

तुम चन्द्र-वदनि, तुम कुंद-दशनि, तुम शशि-प्रेयसि प्रिय-परछाँई।
नभ की नवरंग सीपी से तुम, मुक्ताभा सदृश उमड़ आई।
उर में अविकच स्वप्नों का युग, मन की छवि तन से छन छाई।
श्री, सुख, सुखमा की कलि चुन-चुन, जग के हित अंचल भर लाई।

(धीरे-धीरे प्रकाश बढ़ता है एवं सारा दृश्य आलोक-प्लावित हो उठता है। इन्द्रधनुषी किरणों द्वारा वाहित, मधुर-मुखरित, ज्योत्स्ना का दिव्य-यान नाव पर अवतरित होता है। सरोवर में राजहंसों का दल असमय आँखें खुल जाने पर ग्रीवा उठा-उठाकर कल-ध्वनि करता है)

ओस—(एक साथ) सम्राज्ञी की जय !

पवन-सुरभि—सम्राज्ञी की जय !

(ज्योत्स्ना सिंहासन पर आसीन होती है। दायें-बायें पार्श्वों में पवन और सुरभि, उनके चतुर्दिक किरणें अपना स्थान ग्रहण करती हैं। ओस स्वागत-गान गाते हैं)

गीत

सरल चटुल, विमल विपुल, हिमशिशु हुलसाये !
दल-दल पर झलमल कर, मोती मुसकाये !
मुकुल-मुकुल पर विलास, कलि कलि पर हास-हास !
तृण-तृण पर तरल लास, भू पर उडु छाये !
स्वागत, सम्राज्ञि ! आज, श्रीसुख के सजे साज।
चल-छवि कल तुहिन ताज, मणि-द्युति गल जाये !

(ज्योत्स्ना के संकेत से गीत-नृत्य थम जाता है। ओस सिंहासन के दोनों ओर दो टोलियों में बँटकर चंचल नाट्य-पूर्वक मूक अभिनय करते हैं)

ज्योत्स्ना—(प्रसन्न भाव से) तुमसे और सुरभि से मिलकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई, पवन !

पवन—सदैव से स्वच्छन्द-प्रकृति पवन को सम्राज्ञी के सौजन्य ने वशी-कर लिया।

सुरभि—सुरभि सम्राज्ञी की सेवा के लिए सदैव प्रस्तुत रहेगी।

ज्योत्स्ना—पवन ! संसार की इस समय क्या स्थिति है, मुझे संक्षेप में सुनाओ। तुम सदागति हो, तुमसे कोई भेद छिपा नहीं रहता।

पवन—सम्राज्ञि, इस युग के मनोजगत् में सर्वत्र ऊहापोह और क्रांति मची है। एक ओर धर्मांधता, अंध-विश्वास और जीर्ण रूढ़ियों से सग्राम चल रहा है। दूसरी ओर वैभव और शक्ति का मोह मनुष्य की छाती को लोह-शृंखला की तरह जकड़े हुए है। बुद्धि का अहंकार, प्रखर त्रिशूल की तरह बढकर, मनुष्य के देवत्व-प्रिय स्वभाव एवं आदर्श-प्रिय हृदय को स्वार्थ की नोक से छेद रहा है। विद्वान् लोग जीवन के गूढ़ प्रश्नों एवं विश्व की जटिल समस्याओं पर विज्ञान का नवीन प्रकाश डालकर सृष्टि के गूढ रहस्यों को नवीन ढंग से सुलझाने की चेष्टा कर रहे हैं। विकासवाद के दुष्परिणाम से, भौतिक ऐश्वर्य पर मुग्ध एव इन्द्रिय-सुख से लुब्ध मनुष्य-जाति, समस्त वेग से, जड़वाद के गर्त की ओर अग्रसर हो रही है। मानव सभ्यता का अर्थवाद की दृष्टि से ऐतिहासिक तत्त्वावलोचन करने पर समस्त प्राचीन आदर्शों, संस्कारों, नैतिक नियमों एवं आचार-व्यवहारों के प्रति विश्वास उठ गया है। मनुष्य मनुष्य न रहकर एक ओर निरंकुश धनपति, दूसरी ओर आर्त श्रमजीवी बन गया है। इस आतरिक विपर्यय के कारण ससार का मनोलोक, द्रवित वाष्प-पिंड की तरह प्रलय वेग से घूमकर, अपने अंतरतम जीवन में समस्त विरोध उन्मूलक एव विश्व-व्यापी परिवर्तन का आवाहन करना चाहता है। अपने अस्पष्ट भविष्य को सुस्थ, स्पष्ट एवं सबल स्वरूप देकर मनुष्य संसार की सभ्यता के इतिहास में नवीन स्वर्णयुग का निर्माण करना चाहता है। जब तक वह किसी सन्तोष-जनक परिणाम पर नहीं पहुँच सकेगा, सृष्टि के सरल, सुगम, सनातन नियमों पर उसका अविश्वास ही बना रहेगा। और, चारों ओर अज्ञान, अंधकार, पशुबल एवं तामसी प्रवृत्तियों का बोलबाला रहेगा।

ज्योत्स्ना—जान पड़ता है, मनुष्य को यथार्थ-प्रकाश की आवश्यकता है। इस अनादि, अनंत जीवन पर अनंत दृष्टिकोणों से प्रकाश डाला जा सकता है। ज्ञान-विज्ञान से मनुष्य को अभिवृद्धि हो सकती है, विकास नहीं हो सकता। सरल, सुन्दर और उच्च आदर्शों पर विश्वास रखकर ही मनुष्य-जाति सुख-शाति का उपभोग कर सकती है, पशु से देवता बन सकती है। आदर्श चिरंतन अनुभूतियों की अमर प्रतिमाएँ हैं। वे तार्किक सत्य नहीं, अनुभावित सत्य हैं। आदर्शों को सापेक्ष दृष्टि से देखने से उनका मूल्य नहीं आंका जा सकता। उन्हें निरपेक्षत. मान लेने पर ही मनुष्य उनकी आत्मा तक पहुँच सकता है। निरपेक्ष

 सत्य शून्य नहीं; वह सर्व है। प्रत्येक वस्तु का निरपेक्ष मूल्य भी है। आदर्श व्यक्ति के लिए असीम हैं। देश, काल, समाज आदर्शों की सीमाएँ हैं, सार नहीं, उनके इतिहास हैं, तत्त्व नहीं। (नेपथ्य में झिल्ली की कर्कश झंकार सुनाई पड़ती है)

ज्योत्स्ना—पृथ्वी पर उतरते ही मर्त्यलोक के प्राणियों का तर्क-वितर्क, ऊहापोह, चीत्कार-किलकार, कानों के परदे फाड़ने लगा। इस आनन्दपूर्ण सृष्टि का अर्थ इन्होंने जीवन-संग्राम समझ लिया है। रात-दिन द्वंद्व-संघर्ष, वाद-विवाद, ईर्ष्या-कलह के सिवा इन्हें और कुछ सूझता ही नहीं। हाय! इन्द्रियों की मदिरा पीकर यह मनुष्य-जाति उन्मत्त हो गई है। इसने अपनी आत्मा के अमर आनन्द को क्षण-भंगुर इन्द्रियों के हाथ बेच दिया है। इसकी समस्त शक्ति मृगतृष्णा के स्वर्ग का निर्माण करने में लगी है, जो इस विनाश के मरु में भटकाकर सदैव और भी दूर भागता जाता है। प्रकृति की इस अपार रूप-राशि पर मुग्ध होकर मनुष्य का प्रकृतिवादी बन जाना आश्चर्य की बात नहीं, किन्तु इससे मुक्त न हो सकना अवश्य ही दुःख की बात है।

भोर का तारा

लेखक—श्री जगदीश चन्द्र माथुर

समय—सन् ४५५ ई० के आसपास।

स्थान—गुप्त-साम्राज्य की राजधानी उज्जयिनी में एक साधारण कवि का गृह।

पात्र

शेखर—उज्जयिनी का कवि।

माधव—गुप्त-साम्राज्य में एक राजकर्मचारी (शेखर का मित्र)

छाया—शेखर की प्रेयसी, बाद में पत्नी

*　　*　　*

१

(कवि शेखर का गृह। सब वस्तुएँ अस्तव्यस्त। बाईं ओर एक तख़्त पर मैली फटी हुई चद्दर बिछी है। उस पर एक चौकी भी रक्खी है और लेखनी इत्यादि भी। इधर-उधर भोजपत्र (या कागज़) बिखरे हुए पड़े हैं। एक तिपाई भी है, जिस पर कुछ पात्र रक्खे हुए हैं। पीछे की ओर खिड़की है। बायाँ दरवाज़ा अन्दर जाने के लिए है, और दाँया बाहर से आने के लिए। दीवारों में कई आले या ताख़ हैं। जिनमें दीपदान या कुछ और वस्तुएँ रक्खी हैं। शेखर कुछ गुनगुनाते हुए टहलता है, या कभी कभी तख़्त पर बैठकर कुछ लिखता है। जान पड़ता है, वह संलग्न है। तल्लीन मुद्रा। जो कुछ वह कहता है, उसे

लिखता भी जाता है)।

"अँगुलियाँ आतुर तुरत पसार

खींचते नीले पट का छोर""(दुबारा कहता है, फिर लिखता है)

टँका जिसमें जाने किस ओर"'

स्वर्ण कण""""स्वर्ण कण""""(पूरा करने के प्रयास करने में तल्लीन है) इतने में बाहर से माधव का प्रवेश। सासारिक अनुभव और जानकारी उसके चेहरे से प्रकट हैं। द्वार के पास खड़ा होकर वह थोड़ी देर तक कवि की लीला देखता रहता है। उसके बाद—)

माधव—शेखर !

शेखर—(अभी सुना ही नहीं। एक पंक्ति लिखकर) स्वर्ण कण प्रिय को रहा निहार।

मा०—शेखर !

शे०—(चौंककर) कौन ? ओह ! माधव ! (उठकर माधव की ओर वढ़ता है)

मा०—क्या कर रहे हो शेखर ?

शे०—यहाँ आओ माधव, यहाँ। (उसके कंधों को पकड़कर तख़्त पर बिठाता हुआ) यहाँ बैठो। (स्वयं खड़ा है) माधव, तुमने भोर का तारा देखा है कभी ?

मा०—(मुसकराते हुए) हाँ ! क्यों ?

शे०—(बड़ी गम्भीरतापूर्वक) कैसा अकेला-सा, एकटक देखता रहता है ? जानते हो क्यों ?""""नहीं जानते ! (तख़्त के दूसरे भाग पर बैठता हुआ) बात यह है कि एक बार रजनी बाला अपने प्रियतम प्रभात से मिलने चली, गहरे नीले कपड़े पहनकर जिसमें सोने के तारे टँके थे। ज्यों ही निकट पहुँची, त्यों ही लाज की आँधी आई और बेचारी रजनी को उड़ा ले चली। (रुककर) फिर क्या हुआ ?

मा०—(कुछ उद्योग के बाद) प्रभात अकेला रह गया ?

शे०—नहीं, उसने अपनी अँगुलियाँ पसारकर उसके नीले पट का छोर खींच लिया। जानते हो, यह भोर का तारा है न ? उसी छोर में टँका हुआ सोने का कण है, एकटक प्रियतम प्रभात को निहार रहा है।""""क्यों ?

मा०—बहुत ऊँची कल्पना है। लिख चुके क्या ?

शे०—अभी तो और लिखूँगा। बैठा ही था कि इतने में तुम आ गए—

मा०—(हँसते हुए) और तब तुम्हें ध्यान हुआ कि तुम धरती पर

 ही बैठे थे, आकाश में नहीं। (रुककर) मुझे कोस तो नहीं रहे हो शेखर?

शे०—(भोलेपन से) क्यों ?

मा०—तुम्हारी परियों और तारों की दुनियों में मैं मनुष्यों की दुनियाँ लेकर आ गया।

शे०—(सच्चेपन से) कभी कभी तो मुझे तुममें भी कविता दीख पड़ती है।

मा०—मुझमें ?······(जोर से हँसकर) तुम अठखेलियाँ करना भी जानते हो ?······(गम्भीर होते हुए) शेखर, कविता तो कोमल हृदयों की चीज है। मुझ जैसे काम-काजी राजनीतिज्ञों और सैनिकों के तो छूने भर से मुरझा जाएगी। हम लोगों के लिए तो दुनियाँ की और ही उलझनें बहुत हैं।

शे०—माधव, तुमने कभी यह भी सोचा है कि इन उलझनों से बाहर निकलने का मार्ग भी हो सकता है ?

मा०—और हम लोग करते ही क्या हैं ? रात-दिन मनुष्यों की उलझनें सुलझाने का ही तो उद्योग करते रहते हैं।

शे०—यही तो नहीं करते। तुम राजनीतिज्ञ और मंत्री लोग बड़ी संजीदगी के साथ अमीरी, गरीबी, युद्ध और सन्धि की समस्याओं को हल करने का अभिनय करते हो, परन्तु मनुष्य को इन उलझनों के बाहर कभी नहीं लाते। कवि इसका प्रयत्न करते हैं, पर तुम उन्हें पागल—

मा०—कवि ?···(अवहेलनापूर्वक) तुम उलझनों से बाहर निकलने का प्रयास नहीं करते, तुम उन्हें भूलने का प्रयास करते हो ? तुम सपना देखते हो कि जीवन सौंदर्य है, हम जागते रहते हैं और देखते हैं कि जीवन कर्त्तव्य है।

शे०—(भावुकता से) मुझे तो सौंदर्य ही कर्त्तव्य जान पड़ता है। मुझे तो जहाँ सौंदर्य दीख पड़ता है, वहाँ कविता दीख पड़ती है वहीं जीवन दीख पड़ता है। (स्वर बदलकर) माधव ! तुमने सम्राट् के भवन के पास राजपथ के किनारे उस अंधी भिखमगी को कभी देखा है ?

मा०—(मुस्कराहट रोकते हुए) हाँ।

शे०—मैं उसे सदा भीख देता हूँ। जानते हो क्यों ?

मा०—क्यों ! (कुछ सोचने के बाद) दया सज्जन का भूषण है।

शे०—दया ? हुँ ! (ठहरकर) मैं तो उसे इसलिए भीख देता हूँ क्योंकि मुझे उसमें एक कविता, एक लय, एक कला झलक पड़ती है। उसका गहरा ···। चेहरा, उसके काँपते हुए हाथ, उसकी आँखों के वेवस गड्ढे (एक

तरफ एकटक देखते हुए, मानों इस मानसिक चित्र में खो गया हो) उसकी
झुकी हुई कमर—माधव, मुझे तो ऐसा जान पड़ता है मानो किसी शिल्पी ने उसे इस ढाँचे में ढाला हो।

मा०—(इस भाषण से उसका अच्छा खासा मनोरंजन हो गया जान पड़ता है। खड़े होकर शेखर पर शरारत भरी आँखें गड़ाते हुए) शेखर, टाट में रेशम का पैबन्द क्यों लगाते हो ? ऐसी कविता तो तुम्हें किसी देवी की प्रशंसा में करनी चाहिए थी।

शे०—(सरल भाव से) किस देवी की ?

मा०—(अर्थपूर्ण स्वर में) यह तो उसके पुजारी से पूछो।

शे०—मैं तो नहीं जानता किसी पुजारी को।

मा०—अपने को आज तक किसी ने जाना है, शेखर ? (हँस पड़ता है। शेखर कुछ समझकर झेंपता-सा है)···पागल ! ··· (गम्भीर होकर बैठते हुए) शेखर, सच बताओ, तुम छाया को प्यार करते हो ?

शे०—कितनी बार पूछोगे ?—(मद, गहरे स्वर में)

मा०—बहुत प्यार करते हो ?

शे०—माधव, जीवन में मेरी दो ही तो साधनाएँ हैं (तख्त से उठकर खिड़की की ओर बढ़ता हुआ)—छाया का प्यार और कविता (खिड़की के सहारे दर्शकों की ओर मुँह करके खड़ा हो जाता है)

मा०—और छाया ?

शे०—हम दोनों नदी के दो किनारे हैं जो एक दूसरे की ओर मुड़ते हैं पर मिल नहीं पाते।

मा०—(उठकर शेखर के कन्धे पर हाथ रखते हुए) सुनो शेखर, नदी सूख भी तो सकती है।

शे०—नहीं माधव, उसके भाई देवदत्त से किसी तरह की आशा करना व्यर्थ है। मेरे लिये तो उनका हृदय सूखा हुआ है।

मा०—क्यों ?

शे०—तुम पूँछते हो क्यों ? तुम भी तो सम्राट् स्कन्दगुप्त के दरबारी हो। देवदत्त एक मंत्री हैं। भला एक मंत्री की बहन का एक मामूली कवि से क्या सम्बन्ध ?

मा०—मामूली कवि ! शेखर तुम अपने को मामूली कवि समझते हो ?

शे०—और क्या समझूँ ? राजकवि ?

मा०—सुनो शेखर, तुम्हें एक खबर सुनाता हूँ।

शे०—खबर ?

मा०—हाँ, मैं कल रात को राजभवन गया था।

शे०—इसमें तो कोई नई बात नहीं। तुम्हारा तो काम ही यह है।

मा०—नहीं कल एक उत्सव था। स्वयं सम्राट् ने कुछ लोगों को बुलाया था। गाने हुए, नाच हुए, दावत हुई। एक युवती ने बहुत सुन्दर गीत सुनाया। सम्राट् तो उस गीत पर रीझ गये।

शे०—(उकताकर) आखिर तुम यह सब मुझे क्यों सुना रहे हो, माधव ?

मा०—इसलिए कि सम्राट् ने उस गीत बनाने वाले का नाम पूछा। पता चला कि उसका नाम था शेखर!

शे०—(चौंककर) क्या ?

मा०—अभी और तो सुनो। उस युवती ने सम्राट् से कहा कि अगर आपको यह गाना पसन्द है, तो इसके लिखने वाले कवि को अपने दरबार में बुलाइए। अब कल से वह कवि महाराजाधिराज सम्राट् स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के दरबार-में जाएगा।

शे०—मैं ?

मा०—(अभिनय-सा करते हुए, झुककर) श्रीमन्, क्या आप ही का नाम शेखर है ?

शे०—मैं जाऊँगा सम्राट् के दरबार में ? माधव, सपना तो नहीं देख रहे हो ?

मा०—सपने तो तुम देखा करते हो। लेकिन अभी मेरा समाचार पूरा कहाँ हुआ है ?

शे०—हाँ, वह युवती कौन है ?

मा०—अब यह भी बताना होगा ? तुम भी बुद्धू हो। क्या इसी बूते पर प्रेम करने चले थे ?

शे०—ओह!...छाया!...(माधव का हाथ पकड़ते हुए).. तुम कितने अच्छे हो!

मा०—और सुनो।...सम्राट् ने देवदत्त को आज्ञा दी है कि वह तक्षशिला जाकर वहाँ के क्षत्रप वीरभद्र को दबाएँ। आर्य देवदत्त के साथ मैं भी जाऊँगा, उनका मंत्री बनकर। समझे ?

शे०—(स्वप्न-से में) तो क्या सच ही छाया ने कहा ? सच ही ?

मा०—शेखर, आठ दिन बाद आर्य देवदत्त और मैं तक्षशिला चल देंगे। ...उसके बाद—उसके बाद छाया कहाँ रहेगी ? भला, बताओ तो ?

शे०—माधव !...(माधव हँस पड़ता है) इतना भाग्य ? [
इतना...विश्वास नहीं होता।

मा०—न करो विश्वास !...लेकिन भले मानस, छाया क्या इस कूड़े में रहेगी ? ये बिखरे हुए कागज़, टूटी चटाई, फटे हुए वस्त्र। शेखर, लापरवाही की भी सीमा होती है।

शे०—मैं कोई इन बातों की परवाह करता हूँ ?

मा०—और फिर ?

शे०—मैं परवाह करता हूँ फूल की पँखुड़ियों पर जगमगाती हुई ओस की, (भावोद्रेक से), संध्या में सूर्य की किरणों को अपनी गोद में सिमेटने वाले बादल के टुकड़ों की, सुबह को आकाश के कोने में टिमटिमाने वाले तारे की।

मा०—एक चीज़ रह गई।

शे०—क्या ?

मा०—जिसे तुम वृक्षों के नीचे दिन में फैली देखते हो। (उठकर दूर खड़ा हो जाता है)

शे०—वृक्षों के नीचे ?

मा०—जिसे तुम दर्पण में झलकती देखते हो।

शे०—दर्पण में ?

मा०—जिसे तुम अपने हृदय में हमेशा देखते हो। (निकट आ गया है)

शे०—(समझकर, बच्चों की तरह) छाया !

मा०—(मुसकराते हुए) छाया ! (पर्दा गिरता है)

२

(उज्जयिनी में आर्य देवदत्त का भवन जिसमें अब शेखर और छाया रहते हैं। कमरा सजा हुआ और साफ है। दीवारों पर कुछ चित्र खिंचे हुए हैं। कोने में धूपदान भी हैं। सामने तख्त पर चटाई और लिखने पढ़ने का सामान है। बराबर में एक छोटी चौकी पर कुछ ग्रन्थ रक्खे हुए हैं। दूसरी ओर एक पीढ़ा है, जिसके निकट मिट्टी की, किन्तु कलापूर्ण, एक अँगीठी रक्खी हुई है। दीवार के एक भाग पर एक अलँगनी है, जिस पर कुछ धोतियाँ इत्यादि टँगी हैं।

छा०—सौन्दर्य की प्रतिमा, चाञ्चल्य, उन्माद और गाम्भीर्य का जिसमें स्त्री-सुलभ सम्मिश्रण है। गृहस्वामिनी होने के नाते कमरे की सब वस्तुएँ ठीक ठीक स्थान पर सम्हालकर रख रही है। साथ ही कुछ गुनगुनाती भी जाती है। जाड़ा होने के कारण तापने के लिए उसने अँगीठी में अग्नि प्रज्वलित कर दी है। कुछ देर बाद पीढ़े पर बैठकर वह अँगीठी को ठीक करती है। उसकी पीठ द्वार की ओर

 है । अपने कार्य और गान में इतनी संलग्न है कि उसे बाहर पैरों की आवाज़ नहीं सुनाई देती है ।

गीत

प्यार की है क्या यह पहचान ?
चाँदनी का पाकर नवस्पर्श, चमक उठते पत्ते नादान;
पवन को परस सलिल की लहर, नृत्य में हो जाती लयमान;
सूर्य का सुन कोमल पदचाप, फूट उठता चिड़ियों का गान,
तुम्हारी तो प्रिय केवल याद, जगाती मेरे सोये प्राण ।
प्यार की है क्या यह पहचान ?

(धीरे से शेखर का प्रवेश । कन्धे और कमर पर ऊनी दुशाला है, बगल में ग्रन्थ । गले में फूलों की माला है । द्वार पर चुपचाप खड़ा होकर मुसकराते हुए छाया का गीत सुनता है)

शे०—(थोड़ी देर बाद, धीरे से) छाया ! (छाया नहीं सुन पाती है । गाना जारी है । फिर कुछ समय बाद) छाया !!

छा०—(चौंककर खड़ी हो जाती है । एक साथ मुख फेरकर) ओह !

शे०—(तख्त की ओर बढ़ता हुआ) छाया तुम्हें एक कहानी मालूम है ?

छा०—(उत्सुकतापूर्वक) कौन सी ?

शे०—(छोटी चौकी पर पहले तो अपनी बगल का ग्रन्थ रखता है, और फिर उस पर दुशाला रखते हुए) एक बहुत सुन्दर-सी ।

छा०—सुनें, कैसी कहानी है ?

शे०—(बैठकर) एक राजा के यहाँ एक कवि रहता था, युवक और भावुक । राजभवन में सब लोग उसे प्यार करते थे । राजा तो उस पर निछावर था । रोज़ सुबह राजा उसके मुँह से नई कविता सुनता था, नई और सुन्दर कविता ।

छा०—हूँ ? (पीढ़े पर बैठ जाती है, चिबुक को हथेली पर टेकती है)

शे०—परन्तु उस में एक बुराई थी ।

छा०—क्या ?

शे०—वह अपनी कविता केवल सुबह के समय सुनाता था । यदि राजा उससे पूछता कि तुम दोपहर या संध्या को अपनी कविता क्यों नहीं सुनाते, तो वह उत्तर देता 'मैं केवल रात के तीसरे पहर में कविता लिख सकता हूँ' ।

छा०—राजा उससे रुष्ट नहीं हुआ ?

शे०—नहीं । उसने सोचा कवि के घर चलकर देखा जाय कि इसमें रहस्य क्या है ? रात का तीसरा पहर होते ही राजा वेश बदल कर कवि के घर

के पास खिड़की के नीचे बैठ गया।

छा०—उसके बाद!

शे०—उसके बाद राजा ने देखा कि कवि लेखनी लेकर तैयार बैठ गया। थोड़ी देर में कहीं से बहुत मधुर बहुत सुरीला स्वर राजा के कान में पड़ा। राजा झूमने लगा और कवि की लेखनी आपसे आप चलने लगी।

छा०—फिर?

शे०—फिर क्या? राजा महल को लौट आया और उसके बाद उसने कवि से कभी यह प्रश्न नहीं पूछा कि वह सुबह ही क्यों कविता सुनाता था। भला बताओ तो क्यों नहीं पूछा?

छा०—बताऊँ?

शे०—हाँ!

छा०—राजा को यह मालूम हो गया कि उस नायिका के स्वर में ही कवि की कविता थी। और बताऊँ? (खड़ी हो जाती है)

शे०—(मुसकराते हुए) छाया, तुम—

छा०—(टोककर, शीघ्रता और चचलता के साथ) वह नायिका और कोई नहीं, उस कवि की पत्नी थी। और बताऊँ? उस कवि को कहानी सुनाने का बहुत शौक था, झूठी कहानी। और बताऊँ? उस कवि के बाल लम्बे थे, कपड़े ढीले-ढाले, गले में उसके फूलों की माला थी, माथे पर—(इस बीच में शेखर की मुस्कराहट हल्की हँसी में परिणत हो गई है, यहाँ तक कि इन शब्दों तक पहुँचते पहुँचते दोनों जोर से हँस पड़ते हैं।)

शे०—(थोड़ी देर बाद गम्भीर होते हुए) लेकिन छाया, तुम्हीं बताओ तुम्हारे गान, तुम्हारी प्रेरणा, तुम्हारे प्रेम के बिना मेरी कविता क्या होती? तुम तो मेरी कविता हो।

छा०—(बड़े गम्भीर, उलहनाभरे स्वर में) प्रत्येक पुरुष के लिए स्त्री एक कविता है।

शे०—क्या मतलब तुम्हारा?

छा०—कविता तुम्हारे सूने दिलों में संगीत भरती है। स्त्री भी तुम्हारे ऊबे हुए मन को बहलाती है। पुरुष जब जीवन की सूखी चट्टानों पर चढ़ता चढ़ता थक जाता है, तब सोचता है—'चलो, थोड़ा मन बहलाव ही कर लें'। स्त्री पर अपना सारा प्यार, अपने सारे अरमान निछावर कर देता है, मानों दुनियाँ में और कुछ हो ही न। और उसके बाद जब चाँदनी बीत जाती है, जब कविता नीरव हो जाता है तब पुरुष को चट्टानें फिर बुलाती हैं, और वह ऐसे भागता है मानों

 पींजड़े से छूटा हुआ पंछी। और स्त्री? स्त्री के लिए वही अँधेरा, फिर वही सूनापन।

शे०—(मंद स्वर में) छाया, तुम मेरे साथ अन्याय कर रही हो।

छा०—क्या एक दिन तुम मुझे भी ऐसे छोड़कर न चले जाओगे?

शे०—लेकिन छाया, मैं तुम्हें छोड़कर कहाँ जा सकता हूँ?

छा०—उँहूँ! मैं नहीं मान सकती।

शे०—सुनो तो; मेरे लिए तो जीवन में ऐसी सूखी चट्टानें थोड़े ही हैं। मेरी कविता ही मेरी हरी-भरी वाटिका है। मैं उसे प्यार करता हूँ क्योंकि मुझे उस में सौन्दर्य दीखता है। मैं तुम्हें प्यार करता हूँ क्योंकि मुझे तुम्हारे हृदय में सौंदर्य दीखता है। जिस दिन मैं तुम से दूर हो जाऊँगा, (कुछ रुककर) मेरी कविता मर जाएगी।

छा०—नहीं शेखर, मैं मर जाऊँगी किन्तु तुम्हारी कविता रहेगी; बहुत दिन रहेगी।

शे०—मेरी कविता! (कुछ देर बाद) ··छाया, आज मैं तुम्हें एक बड़ी विशेष बात बताने वाला हूँ, एक ऐसा भेद जो अब तक मैंने तुमसे भी छिपा रक्खा था।

छा०—रहने दो, तुम ऐसे भेद और ऐसी कहानियाँ सुनाया ही करते हो।

शे०—नहीं।······ अच्छा, तनिक उस दुशाले को उठाओ। (छाया उठाती है) उसके नीचे कुछ है। (छाया उस ग्रन्थ को हाथ में लेती है) उसे खोलो।······क्या है?

छा०—(आश्चर्यान्वित होकर) ओह! (ज्यों ज्यों छाया उसके पन्ने उलटती जाती है, शेखर की प्रसन्नता बढ़ती जाती है।) 'भोर का तारा'। उफ्फोह! यह तुमने कब लिखा? मुझसे छिपकर?

शे०—(हँसते हुए विजय का-सा भाव) छाया, तुम्हें याद है उस दिन की, जब माधव के साथ मैं तुम्हारे भाई देवदत्त से मिलने इसी भवन में आया था?

छा०—(शेखर की ओर थोड़ी देर देखकर) उस दिन को कैसे भूल सकती हूँ, शेखर? उसी दिन तो भैया को तक्षशिला जाने की आज्ञा मिली थी, उसी दिन तो हम और तुम······(रुक जाती है)

शे०—हाँ छाया, उसी दिन मैंने इस महाकाव्य को लिखना आरंभ किया था। (गहरे स्वर में) आज वह समाप्त हो गया।

छा०—शेखर, यह हमारे प्रेम की अमर स्मृति है।

शे०—इसे यहाँ लाओ। (हाथ में लेकर, चाव से खोलता हुआ)

काव्य बड़ी लगन का फल है। कल मैं [हिं. १६१
...ाऊँगा। और फिर, जब मैं उस सभा में इसे सुनाना
...सम्राट् गद्गद हो जाएँगे, और मैं कवियों का सिरमौर
...बाद दुनियाँ पढ़ेगी, कविकुलशिरोमणि शेखरकृत 'भोर
(विभोर)

...ओर एकटक देख रही है। सहसा उसके चेहरे पर
रेखा खिंच जाती है। शेखर हँस रहा है)

(वह हँसे जा रहा है) शेखर ! (हँसे जा रहा है)
शेखर ! (शेखर की दृष्टि उस पर पड़ती है।)

शे०—(सहसा चुप होकर) क्यों छाया, क्या हुआ तुमको ?

छा०—(चिन्तित स्वर में) शेखर ! (चुप हो जाती है)

शे०—कहो।

छा०—शेखर, तुम इसे सम्हाल कर रक्खोगे न ?

शे—बस, इतनी ही-सी बात ?

छा०—शेखर मुझे डर लगता है कि "कि"'कहीं यह नष्ट न हो जाय, कोई इसे चुरा न ले जाय, और फिर तुम—

शे०—हा हा हा ! पगली ऐसा ! क्यों होने लगा ? सोचने से ही डर गई। छाया, छाया, तुम्हारे लिए तो आज प्रसन्न होने का दिन है। बहुत प्रसन्न! ······इधर देखो छाया ! हम लोग कितने सुखी हैं ? और तुम ? जानती हो तुम कौन हो ? तुम हो तक्षशिला के क्षत्रप देवदत्त की बहन और उज्जयिनी के सब से बड़े कवि शेखर की पत्नी। " तक्षशिला का क्षत्रप और उज्जयिनी का कवि। हँ हँ हँ ! ····· क्यों छाया ?

छा०—(मन्द स्वर में) तुम सच कहते हो, शेखर। हम लोग बहुत सुखी हैं।

शे०—(मग्नावस्था में) बहुत सुखी !

(सहसा बाहर कोलाहल। घोड़े के टापों की आवाज़। शेखर और छाया छिटककर चैतन्य खड़े हो जाते हैं। शेखर द्वार की ओर बढ़ता है)

शे०—कौन है ?

(सहसा माधव का प्रवेश। थकित और श्रमित, शस्त्रों से सुसज्जित। पसीने से नहा रहा है। चेहरे पर भय और चिन्ता के चिह्न हैं)

शेखर और छाया—माधव !

 शे०—माधव, तुम यहाँ कहाँ ?

मा०—(दोनों पर दृष्टि फेंकता हुआ) शेखर, छाया ! (फिर उस कमरे पर डरती-सी आँख डालता है, मानो उस सुरम्य घोंसले को नष्ट करने से भय खाता हो। कुछ देर बाद बड़े प्रयत्न और कष्ट के साथ बोलता है), मैं तुम दोनों से भीख माँगने आया हूँ।

(छाया और शेखर के आश्चर्य का ठिकाना नहीं है।)

छा०—भीख माँगने, तक्षशिला से ?

शे०—तक्षशिला से, माधव, क्या बात है ?

मा०—(धीरे-धीरे, मजबूती के साथ बोलना आरम्भ करता है, परन्तु ज्यों ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों त्यों स्वर में भावुकता आती जाती है) हाँ, मैं तक्षशिला से आ रहा हूँ। यहाँ तक कैसे आ पाया, यह मैं नहीं जानता। यात्रा के यह दिन कैसे बीते, यह भी नहीं जानता। हाँ यह जानता हूँ कि आज गुप्त-साम्राज्य सकट में है और हमें घर-घर भीख माँगनी पड़ेगी।

शे०—गुप्त-साम्राज्य संकट में है। क्या कह रहे हो माधव ?

मा०—(संजीदगी के साथ) शेखर, पश्चिमोत्तर सीमा पर आग लग चुकी है। हूणों का सरदार तोरमाण भारतवर्ष पर चढ आया है।

छा०—(भयाक्रान्त होकर) तोरमाण ?

मा०—उसने सिन्धुनद को पार कर लिया है, उसने अम्भी राज्य को नष्ट कर दिया है। उसकी सेना तक्षशिला को पैरों तले रौंद रही है।

छा०—(सहसा माधव के निकट जाकर, भय से कातर हो उसकी भुजा पकड़ती हुई) तक्षशिला ?

मा०—(उसी स्वर में) सारा पचनद आज उसके भय से काँप रहा है। एक के बाद एक गाँव जल रहा है। हत्याएँ हो रही हैं। अत्याचार हो रहा है। शीघ्र ही सारा आर्यावर्त पीड़ितों के हाहाकार से गूँजने लगेगा। शेखर, छाया, मैं तुमसे माँगता हूँ, नई भीख माँगता हूँ—सम्राट् स्कन्दगुप्त की, साम्राज्य की, देश की इस संकट में मदद करो। (बाहर भारी कोलाहल। शेखर और छाया जड़वत् खड़े हैं) देखो, बाहर जनता उमड़ रही है। शेखर तुम्हारी वाणी में ओज है, तुम्हारे स्वर में प्रभाव। तुम अपने शब्दों के बल पर सोई हुई आत्माओं को जगा सकते हो, युवकों में जान फूँक सकते हो। (शेखर सुने जा रहा है। चेहरे पर भावों का आवेग ! मस्तक पर हाथ रखता है) आज साम्राज्य को सैनिकों की आवश्यकता है। शेखर, अपनी ओजमयी कविता के द्वारा तुम गाँव गाँव

सम्राट् और अपने देश की रक्षा के लिए शस्त्र हाथ में ले लें। (कुछ रुककर शेखर के चेहरे की ओर देखता है। उसकी मुद्रा बदल रही है—जैसे कोई भीषण उद्योग कर रहा हो) कवि, देश तुमसे यह बलिदान माँगता है।

छा०—(अत्यन्त दर्दभरे करुण स्वर में) माधव ! माधव !!

मा०—(मुड़कर छाया की ओर कुछ देर देखता है। फिर थोड़ी देर बाद।) छाया, उन्होंने कहा था, 'मेरे प्राण क्या चीज हैं, इसमें तो सहस्रों मिट गए और सहस्रों को मिटना है।'

शे०—(मानों नींद से जगा हो।) किसने ?

मा०—आर्य देवदत्त ने अन्तिम समय !

छा०—(जैसे बिजली गिरी हो।) माधव, माधव, तो क्या भैया—

मा०—उन्होंने वीरगति पाई है, छाया ! (छाया पृथ्वी पर घुटनों पर गिर जाती है। चेहरे को हाथों से ढक लिया है। इस बीच में माधव कहे जाता है, शेखर एक दो बार घूमता है। उसके मुख से प्रकट होता है मानों डूबते को सहारा मिलने वाला है।) तक्षशिला से चालीस मील दूर विद्रोही वीरभद्र की खोज में वह हूणों के दल के निकट जा पहुँचे। वहाँ उन्हें ज्ञात हुआ कि वीरभद्र हूणों से मिल गया है। उनके बीस सैनिक आगे हूणों में फँसे हुए थे। वे तक्षशिला लौट सकते थे और अपने प्राण बचा सकते थे। परन्तु एक सच्चे सेनापति की भाँति उन्होंने अपने सैनिकों के लिये अपने प्राण संकट में डाल दिये और मुझे तक्षशिला और पाटलिपुत्र को चेतावनी देने के लिये भेजा। मैं आज—

(सहसा रुक जाता है, क्योंकि उसकी दृष्टि शेखर पर जा पड़ती है। शेखर चौकी के पास खड़ा है। उसके चेहरे पर दृढ़ता और विजय का भाव है। बाहर कोलाहल कम है। शेखर अपना हाथ बढ़ाकर अपने ग्रन्थ 'भोर का तारा' को उठाता है। इसी समय माधव की दृष्टि उस पर पड़ती है। शेखर पुस्तक को कुछ देर चाव से, बिछुड़न से, प्रेम से देखता है। उसके बाद आगे बढ़ कर अंगीठी के निकट जाकर उसमें जलती हुई अग्नि को देखता है और धीरे धीरे उस पुस्तक को फाड़ता है। इस आवाज को सुनकर छाया अपना मुख ऊपर को करती है।)

छा०—(उसे फाड़ते हुए देखकर) शेखर !

(लेकिन शेखर ने उसे अग्नि में डाल दिया है। लपटें उठती हैं, छाया फिर गिर पड़ती है। शेखर लपटों की तरफ देखता है। फिर छाया की ओर दृष्टिपात करता है, एक सूखी हँसी के बाद बाहर चल देता है। कोलाहल कम